

अमरीकी वित्तीय संकट साम्राज्यवादी पापों का परिणाम है

25 सितम्बर को जार्ज बुश ने संसद में गुहार लगाई कि अमरीकी अर्थव्यवस्था खतरे में है और आर्थिक महाविपत्ति के जोखिम से बचने के लिए तत्काल कदम उठाना जरूरी है। हफ्ते भर बाद ही 2 अक्टूबर को अमरीकी संसद ने अपने देश के सटोरियों को बचाने के लिए 700 अरब डॉलर की सहायता राशि मन्जूर की। गरीब जनता के लिए सस्ती शिक्षा और स्वास्थ्य, सार्वजनिक परिवहन, रहने को घर और सामाजिक सुरक्षा के मद में पर्याप्त धन देने से हमेशा आनाकानी करने वाली अमरीकी संसद ने बैंकों और बीमा कम्पनियों की राहत के लिए जनता की गाढ़ी कमाई से जमा खजाने का मुँह एक झटके में खोल दिया। कैटरिना जैसी महाआपदा हो या रोजमर्रे के आभाव और गरीबी, जनता की सामाजिक सुरक्षा के नाम पर वहाँ के शासकों के पास पैसा नहीं होता, कोई योजना नहीं होती। लेकिन जब खुद उनके ऊपर संकट आया, और व्यवस्था चरमराने लगी तो नयी तरकीबों और धन की कोई कमी आड़े नहीं आयी।

आज जिन बैंकों, वित्तपतियों और बीमा कम्पनियों को डूबने से बचाया जा रहा है, उन्होंने ही अर्थव्यवस्था को हर तरह के सरकारी नियन्त्रण से मुक्त करने और बेरोक-टोक मुनाफा कमाने के अधिकार की लड़ाई लड़ी थी। वहाँ के शासक वर्गों का मानना था कि मुक्त बाजार खुद ही अर्थव्यवस्था को सुचारू रूप से चला लेगा। सरकार को बीच में दखल देने की कोई जरूरत नहीं। लेकिन आज बाजार को विध्वंस से बचाने के लिए मुक्त व्यापार के सभी ध्वजवाहक वित्तीय कम्पनियों, अखबारनवीस और अर्थशास्त्री फौरन से पेशतर सरकारी दखलन्दाजी की चीख-पुकार मचाने लगे। जो रिपब्लिकन पार्टी मुनाफाखोरी में किसी भी तरह की रुकावट और गरीबों को नाममात्र की सहायता स्वीकार करने को तैयार नहीं होती थी, वही अब आर्थिक संकट के सामाजीकरण की बढ़-चढ़कर वकालत करने लगी। जिन नेताओं ने एक समय राष्ट्रीय जन स्वास्थ्य योजना को समाजवाद कहकर ठुकरा दिया था, वे ही इन सट्टेबाजों के लिए समाजवाद की तरफदारी करने लगे। अमरीकी सरकार ने उद्योग-धन्धों को बर्बादी से बचाकर अपने लोगों को

रोजगार की गारण्टी नहीं दी, उनके स्वास्थ्य बीमा को समाप्त कर दिया, लेकिन वित्तीय कम्पनियों की त्राहिमाम-त्राहिमाम की पुकार पर उन्हें बचाने के लिए दौड़ी चली आयी। रिपब्लिकनों और डेमोक्रेटों ने सभी बैर-भाव भूलकर एक-दूसरे को गले लगा लिया। परजीवी सट्टेबाज और वित्तीय कम्पनियाँ अमरीकी जनता के जीवन स्तर में लगातार गिरावट की कीमत पर फलती-फूलती रहीं। समृद्धि के उस दौर में सामाजिक सम्पत्ति में सबकी भागीदारी की बात करना भी गुनाह था। लेकिन जब बैंक तबाह होने लगे और वित्तीय कम्पनियाँ दिवालिया होने लगीं तो आम जनता का अह्वान किया जाने लगा कि राष्ट्रीय विपत्ति की इस घड़ी में उनके नुकसान और डूबे हुए कर्ज को सब लोग आपस में मिलजुलकर बाँट लें। आजकल अमरीका में हर जगह यह जुमला प्रचलन में है “मुनाफे का निजीकरण घाटे का सामाजीकरण।”

हमारे देश के शासक भी पिछले दो दशकों से अमरीकी चाल चल रहे हैं। इनका चरित्र भी हू ब हू ऐसा ही है, बल्कि अमरीकियों से भी गया-गुजरा है। हर्षद मेहता और केतन पारिख के कुकर्मों से शेयर बाजार को उबारने के लिए उन्होंने इसी तरह ऐड़ी-चोटी का जोर लगाया था। लेकिन 20 रु. रोज पर गुजारा करने वाले देश के 80 करोड़ लोगों के लिए ग्रामीण रोजगार योजना या किसानों की कर्ज माफी जैसी नाममात्र की राहत की चर्चा सुनते ही सारे व्यवस्थापोषित अर्थशास्त्री, पत्रकार और सरमायादार चिल्ल-पों मचाने लगते हैं।

विडम्बना ही है कि दुनिया भर में अर्थव्यवस्था को अनियन्त्रित करने और बाजार की शक्तियों को बेलगाम करने का पाठ पढ़ाने वाले सम्राज्यवादी नव उदारवादियों को इस वित्तीय संकट से निजात पाने के लिए अंततः एक तरह के राजकीय पूँजीवाद की शरण में ही जाना पड़ा। वित्तीय विध्वंस और पूरी अर्थव्यवस्था की तबाही को टालने के लिए वित्तमन्त्री हेनरी पौलसन और फ़ैडरल रिजर्व के अध्यक्ष वेन वर्नानके ने सैकड़ों अरब डालर के सरकारी खर्च से उन सभी बन्धक पत्रों, प्रतिभूतियों और अन्य डेरिवेटिव्स को खरीदने की सिफारिश की, जिनके चलते वहाँ वित्तीय संकट पैदा

हुआ। अनुमान है कि इन्हें खरीदने के लिए तीन हजार अरब डालर, अर्थात् अमरीका के सकल घरेलू उत्पाद के लगभग 25 फीसदी धन की जरूरत होगी। इसके लिए फौरी तौर पर यूरोप, जापान और चीन से उधार लिया जायेगा, लेकिन अन्तिम मार तो अमरीकी जनता पर ही पड़ेगी। इस राहत के एवज में अमरीका की अधिकांश बड़ी वित्तीय संस्थाओं पर वस्तुतः सरकार का नियन्त्रण कायम होगा।

दुनिया भर में निजीकरण और बाजारीकरण का प्रचार करने वालों को इस संकट ने जहाँ ला पटका, इसका पहले किसी को अन्दाजा भी नहीं रहा होगा। कुछ वर्ष पूर्व वैश्वीकरण के दुष्प्रचारों से प्रभावित कुछ भले मानुष तो इस नतीजे तक पहुँच गये थे कि अब दुनिया में राष्ट्रीय राज्य की भूमिका ही समाप्त हो रही है। उनका मानना था कि बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ सर्वसत्ता सम्पन्न हैं जो सभी सरकारों से ऊपर हैसियत रखती हैं। साम्रज्यवाद की कार्य प्रणाली में बदलाव के कुछ ऊपरी-ऊपरी लक्षणों को बढ़ा-चढ़ा कर देखने के चलते इस निष्कर्ष तक पहुँचे उन सत्यान्वेषकों को न्युनातिन्युन राज्य-नियन्त्रण वाली अमरीकी खुली अर्थव्यवस्था में ही अपने नवजात विचारों की दुर्दशा देखकर जाने कैसा महसूस हो रहा होगा। बहरहाल, पॉलसन और बर्नार्नके ने स्पष्ट रूप से राज्य-नियन्त्रण की नीति का प्रस्ताव तो नहीं दिया है, लेकिन अमरीका में संसद के भीतर-बाहर चलने वाली बहसों का नतीजा यही होने वाला है।

पूँजीवाद में यह कोई नयी बात नहीं। हमारे देश में भी घाटे में चलने वाले निजी उद्योगों का राष्ट्रीयकरण और मुनाफे में चलने वाले सार्वजनिक उपक्रमों का निजीकरण होता ही रहता है। कुल मिलाकर सरकारों का काम है पूँजीपति वर्ग की सेवा करना जिसमें राजकीय पूँजीवाद अपनाने का विकल्प भी शामिल है।

वियर स्टर्न्स से लेकर लेस्मन ब्रदर्स और ए.आई.जी. तक को ले डूबने और अर्थव्यवस्था को विध्वंश के कगार तक पहुँचाने वाली सटोरिया पूँजी के काले कारनामों की यहाँ विस्तार से चर्चा जरूरी नहीं। देश-विदेश के इस अंक में और पुराने अंकों में भी इस पर अलग से प्रकाश डाला गया है कि किस तरह दुनिया भर में और हमारे देश में भी सट्टेबाजी के नये-नये उपकरण ईजाद किये जा रहे हैं। इनके जरिये निवेशकों को बाजार के उतार-चढ़ाव और जोखिम से बचाने का दावा किया जाता है, लेकिन ये उपकरण खुद ही अर्थव्यवस्था के लिए जोखिम बन जाते हैं। इस श्रृंखला की नयी कड़ी

है स्वेप जिसका बाजार भाव आज 60,000 अरब डालर, यानि वर्तमान राहत पैकेज का लगभग 90 गुना या अमरीकी सकल घरेलू उत्पाद का साढ़े चार गुना हो गया है।

जिन डेरिवेटिव्स के जरिये सट्टेबाजी होती है उनका अनुमानित कीमत वास्तविक उपकरण, जैसे शेयर, बॉन्ड या प्रतिभूति की वास्तविक कीमत से कई-कई गुणा अधिक होती है। मतलब यह कि डेरिवेटिव्स की जमानत में बहुत ही कम मूल्य की वास्तविक परिसम्पत्ति मौजूद होती है। लेकिन आखिर उन्हें इसकी इजाजत किसने दी? सट्टेबाजी को बढ़ावा देने के लिए अमरीकी सरकार जानबूझ कर एक तरफ बैंकिंग क्षेत्र से सभी नियन्त्रण हटाती गयी और दूसरी तरफ वित्तीय कम्पनियों के लिए अनिवार्य जमानत में लगातार कमी लाती गयी। जैसे-जैसे उत्पादक कार्टवाइयों में पूँजी निवेश की गुंजाइश कम होती गयी, वैसे-वैसे बेहिसाब मुनाफे के लालच में सट्टेबाजी में पैसा लगाने का प्रचलन बढ़ता गया। इसके दुष्परिणाम भी सामने आये। जब से डेरिवेटिव्स के ऊपर सट्टेबाजी चल रही है, तब से कई बार वित्तीय कम्पनियों का दिवाला पिटा। 1998 में औरैन्ज काउण्टी और 2000 में लॉग टर्म कैपिटल मैनेजमेन्ट का दिवाला, 2006 में अमरैन्थ एडवाइजर का भट्टा बैठना और 2008 में सोसाइटी जेनेरल को अरबों का नुकसान तो इसके चन्द उदाहरण हैं। लेकिन चेतावनी पर किसी ने कान नहीं दिया और अन्ततः सट्टेबाजी का पूरा तामझाम ही बिखरने लगा और संकट पूरी व्यवस्था को अपनी चपेट में लेने लगा।

पिछले कुछ ही वर्षों में देखते-देखते अन्तरराष्ट्रीय वित्तीय लेन-देन के एक अंग के रूप में इन डेरिवेटिव्स के जरिये असुरक्षित और उड़नछू निवेश का दुनिया भर में तेजी से फैलाव हुआ है। बंधक पत्र और उनके डेरिवेटिव्स के संकट से अमरीकी वित्तीय विध्वंश का जो खतरा पैदा हुआ है उसका दायरा अमरीका तक ही सीमित नहीं है। साम्राज्यवादी वैश्वीकरण के मौजूदा दौर में इस संकट का विश्वव्यापी होना तय है। मुक्त बाजार का छुड़ा साँढ़ दुनिया की किसी भी लहलहाती व्यवस्था को तहस-नहस करने के लिए स्वच्छन्द है। लेकिन सब कुछ जानते हुए भी हमारे देश के वित्तमन्त्री और रिजर्व बैंक के गवर्नर लोगों को गुमराह करने के लिए बयानबाजी करते हैं कि अमरीकी आर्थिक संकट का भारतीय अर्थव्यवस्था पर कोई असर नहीं होगा। कैसे नहीं होगा भला जब यहाँ की वित्तीय व्यवस्था पूरी तरह अमरीकी ढंग-ढर्रे पर चलायी जा रही है? सरकारी बैंकों और बीमा कम्पनियों

का यहाँ भी तेजी से निजीकरण किया जा रहा है और निजी पूँजीपतियों को वे सारे कुकृत्य करने की छूट दी जा रही है जिनके कारण अमरीका में तबाही आयी है। इसका ताजा नमूना है, रिजर्व बैंक द्वारा मुद्रा डेरिवेटिव्स और विनिमय दर के ऊपर सट्टेबाजी की इजाजत दिया जाना।

अमरीकी वित्त व्यवस्था का संकट रातो-रात पैदा नहीं हुआ। यह अमरीकी साम्राज्यवाद के कहीं अधिक व्यापक और गहरे संकटों से जुड़ा हुआ है। यानी वित्तीय संकट अमरीकी अर्थव्यवस्था के चौतरफा संकट और इसे क्षरित करने वाले ढाँचागत संकटों में से एक है। ये सभी संकट एक दूसरे को गहराने में सहायक हैं। पहली बात यह है कि इराक पर हमला और तबाही के ऊपर अमरीका ने 1000 अरब डॉलर से भी अधिक धन कर्ज लेकर खर्च किया।

हाल ही में बुश ने संसद से माँग की है कि सरकारी कर्ज सीमा 11,300 अरब डॉलर, यानी अमरीकी सकल घरेलू उत्पाद का लगभग 80 फीसदी (भारत की अर्थव्यवस्था के ग्यारह गुणे से भी अधिक) कर दी जाये। इस कर्ज में से 24 फीसदी विदेशी बैंकों का है। अमरीका के ऊपर चीन का 500 अरब डॉलर और जापान का 600 अरब डॉलर बकाया है। वह रूस, ब्राजील और सऊदी अरब का भी कर्जदार है। डॉलर का मूल्य गिरने के चलते कर्ज देने वालों को नुकसान हो रहा है और सम्भव है कि वे अपना पैसा कहीं और लगायें। साथ ही अमरीका में उधार का खर्च बढ़ने के चलते वहाँ व्यापार और सरकार दोनों का खर्च बढ़ना तय है।

दूसरी बात यह है कि अफगानिस्तान और इराक पर हमला करके उन पर कब्जा जमाने तथा मध्य पूर्व और मध्य एशिया के तेल कुओं पर कब्जा जमाने की उसकी मंशा पूरी नहीं हुई क्योंकि युद्ध सालों खिंच गया। न तो वह इराक पर वर्चस्व कायम कर पाया, न अफगानिस्तान पर। उल्टे अब यह युद्ध पाकिस्तान की सीमाओं में घुसकर बमबारी और नरसंहार करने तक पहुँच गया। नतीजतन एक तरफ जहाँ देश के भीतर जन-असन्तोष बढ़ रहा है, वहीं दुनिया भर में उसकी चौधराहट पर भी सवाल खड़ा किया जा रहा है। '21वीं सदी अमरीकी सदी' का ख्वाब खटाई में पड़ता दिखाई दे रहा है और साम्राज्यवादियों के बीच आपसी टकराव के आसार नजर आ रहे हैं। हालाँकि अभी भी इसकी हैसियत 'मरा हाथी भी सवा लाख का' जैसी है।

दुनिया भर में पेट्रोलियम पदार्थों के स्रोतों का छीजना और सट्टेबाजों द्वारा कीमतों में बेतहाशा वृद्धि करना भी

अमरीकी संकट का एक महत्वपूर्ण पहलू है। इसके चलते परिवहन, प्लास्टिक और रसायनिक उद्योग तो सीधे प्रभावित हुए ही हैं, इसने अमरीका और पूरी दुनिया की अर्थव्यवस्था को हर तरह से प्रभावित किया।

कुल मिलाकर वैश्वीकरण के इस दौर में अमरीकी समाज अब से 40-50 वर्ष पहले की तुलना में चतुर्दिक अधोपतन का शिकार हुआ है। शासक वर्गों की प्राथमिकता बदली है। उनके लिए दुनिया भर में अपनी डाकाजनी कायम रखने के लिए युद्ध और तबाही पर खर्च बढ़ाना, अपनी जनता के स्वास्थ्य, आवास, समाजिक सुरक्षा और पर्यावरण संरक्षण से कहीं ज्यादा जरूरी है, इसने अमेरीकी समाज की जड़ में मट्टा डालना शुरू कर दिया है। दुनिया की आबादी में से 5 फीसदी लोग अमरीका में रहते हैं, जबकि दुनिया के कुल कैदियों का 25 फीसदी अमरीकी हैं। वहाँ 24 लाख लोग सलाखों के पीछे हैं। बार वेटरेन अफेयर्स के मानसिक स्वास्थ्य सेवा प्रमुख डॉ. इरा कात्ज के अनुसार इराक और अफगानिस्तान में लड़कर आये हुए अवकाश प्राप्त सैनिकों में से 1000 अमरीकी हर माह आत्महत्या का प्रयास करते हैं। मौजूदा संकट ने लाखों अमरीकियों को बेरोजगार और बेघर कर दिया। सरकारी आँकड़ों के मुताबिक वहाँ के 12 फीसदी लोग गरीब हैं जबकि दूसरे स्रोतों के अनुसार यह संख्या 24 फीसदी है। वैश्वीकरण के जरिये अमरीका इन सभी समस्याओं का पूरी दुनिया में निर्यात कर रहा है। दुनिया भर की जनता आज इन सट्टेबाजों की सनक और लुट-खसोट की कीमत अपनी भुखमरी, तंगहाली और नरक से भी बदतर जिन्दगी के रूप में चुका रही है।

वित्तीय दिवालियापन अमरीकी साम्राज्यवादी व्यवस्था के सर्वग्राही संकट का एक पहलू है। काफी समय तक इस पर पर्दा डालने के बाद अन्ततः यह पाप वहाँ के शासकों के सर चढ़कर बोला। लेकिन उनके पास समाधान क्या है? अमरीकी सरकार 700 अरब डालकर खर्च करके बैंकों और सटोरियों की उन कबाड़ परिसम्पत्तियों को खरीदेगी जिनका बाजार में कोई मोल नहीं रहा। एक अमरीकी पत्रकार ने इस योजना को 'रुद्दी के बदले नगदी' का सटीक नाम दिया है। लेकिन इससे क्या होगा? बैंक और सट्टेबाज फिर उन्हीं नियमों, शर्तों और तिकड़मों के सहारे अपना कारोबार शुरू करेंगे और अर्थव्यवस्था को एक और भी गहरे संकट की ओर ले जाने में जुट जायेंगे। इन उपायों से तो इन बैंकों और अमरीकी पूँजीवादी व्यवस्था को चन्द दिनों तक बचा

पाना भी सम्भव नहीं है। यह संकट को टालना भर है और साम्राज्यवादी अपने मौत को केवल टाल ही सकते हैं। बस!

सवाल यह है कि दुनिया की अधिकांश जनता की तबाही और बदहाली की कीमत पर सट्टेबाजी का यह खेल कब तक चलता रहेगा? इसे खत्म करने की पहली शर्त है, परजीवी पूँजी के ऊपर मेहनतकशों के उत्पादक श्रम को प्रमुखता देना, निजी मुनाफाखोरी की जगह 'बहुजन हिताय' को प्रतिष्ठित करना।

इसके लिए पूँजीवादी-साम्राज्यवादी व्यवस्था को बचाने और उसमें सुधार की गुंजाइश देखने वाले हर भ्रामक विचार को बेपर्द करने तथा उनकी जगह बुनियादी बदलाव के क्रान्तिकारी विकल्पों को स्थापित करने और उन पर अमल करने की जरूरत है। साम्राज्यवाद चाहे जितना भी जर्जर हो जाये, वह अपने आप खत्म नहीं होगा। उसे समाप्त करना होगा। □

3 अक्टूबर 2008

छपते-छपते

अमरीकी वित्तीय संकट के भूचाल ने अपने देश के साथ-साथ पूरी दुनिया के बाजारों को हिला कर रख दिया। बुश प्रशासन द्वारा 700 अरब डॉलर का पैकेज भी संकट को टालने में नाकामयाब रहा।

4 अक्टूबर (शनिवार) को जर्मनी, फ्रांस, ब्रिटेन और इटली के नेताओं ने अपनी अर्थव्यवस्थाओं को अमरीकी आर्थिक संकट के झटके से बचाने के लिए बैठक की, लेकिन वे संयुक्त राहत पैकेज प्रस्तुत करने में असफल रहे।

5 अक्टूबर (रविवार) को पूरे यूरोप की सरकारें अपने-अपने देश के बैंकों को दिवालिया होने से बचाने और अगले दिन शेयर बाजार की सम्भावित अफरातफरी को टालने के लिए दिन भर हाथ-पाँव मारती रहीं।

● जर्मनी की सबसे बड़ी कर्जदाता कम्पनी हाइपो रियल इस्टेट ए.जी. को 35 अरब यूरो देकर बचाने का प्रयास विफल रहा। चान्सलर एन्जेला मारकेल ने कहा कि "यूरोप की सबसे बड़ी अर्थव्यवस्था एक वित्तीय संस्था की दुर्गति को समूची व्यवस्था की दुर्गति नहीं बनने देगी।"

● बेल्जियम के प्रधानमंत्री ने कहा कि हमारा लक्ष्य संकट ग्रस्त बैंक फोर्टिस एन.वी. का नया मालिक तलाशना है, ताकि सोमवार को बाजार खुलने से पहले कम्पनी पर भरोसा कायम किया जा सके। दिवालिया होने के डर से अपने देश में उस बैंक के क्रिया-कलाप का राष्ट्रीयकरण कर दिया गया।

● ब्रिटेन के राजकोष प्रमुख ने कहा कि पिछले साल भी सरकार ने बंधक-कर्जदाताओं नौर्दन रॉक और ब्राडफोर्ड एण्ड बिंगले को संकट से बचाने के लिए उनका राष्ट्रीयकरण किया था। अभी तक बैंकिंग क्षेत्र को अरबों की सहायता दी जा चुकी है और अब ऐसे बड़े कदम उठाने की तैयारी है, जिसे साधारण मौकों पर हम नहीं अपनाते।

6 अक्टूबर (सोमवार) को दुनिया भर के शेयर बाजार मन्दी में गोता लगाने लगे। न्यूयार्क डाउ जोन 10,000 अंक के नीचे लुढ़क गया। शेयर सूचकांक पिछले चार वर्षों में सबसे कम रहा। लन्दन और पेरिस के शेयरों में 8 फीसदी से भी अधिक की गिरावट आई जबकि फ्रैंकफर्ट में 7 फीसदी से अधिक की और रूस में 15

फीसदी की गिरावट आई। एसिया में, टोक्यो और हॉंग कॉंग के शेयर बाजारों में क्रमशः 4.25 और 5 फीसदी की गिरावट आई।

दुनियाभर में शेयर बाजार का लुढ़कना जारी रहा। 10 अक्टूबर को अमरीका में 7.30 फीसदी, ब्रिटेन में 7.32 फीसदी, फ्रांस में 9.04 फीसदी, जापान में 9.62 फीसदी और भारत में 7.07 फीसदी की गिरावट दर्ज हुई। इसके चलते निवेशकों के लाखों करोड़ डॉलर मंदी के ब्लैक होल में समा गये।

भारत का शेयर बाजार भी विश्वव्यापी मन्दी से अछूता नहीं रहा। बम्बई शेयर बाजार का सेन्सेक्स 725 अंक गिरकर 11,800 और 10 अक्टूबर को 801 अंक गिरकर 10,527 पर बन्द हुआ जबकि इस साल की शुरुआत में सेन्सेक्स 20,000 से भी ऊपर पहुँच गया था। वित्तीय व्यवस्था को उधार के संकट से बचाने के लिए रिजर्व बैंक ने अचानक बैंकों के कैश रिजर्व अनुपात में 0.5 फीसदी और फिर 1 फीसदी की कटौती करके हजारों करोड़ रुपये बैंकिंग व्यवस्था में उतारे। सेबी ने शेयर बाजार को विदेशी सट्टेबाजों से बचाने के लिए साल भर पहले पी-नोट्स पर जो प्रतिबन्ध लगाया था उसे समाप्त करने की घोषणा की, ताकि विदेशी निवेशकों को भारत में सट्टेबाजी के लिए आकर्षित किया जा सके।

दुनिया के शेयर बाजारों को इन्टरनेट के जरिये आपस में जोड़कर और शेयरों की खरीद-बिक्री को आसान बनाकर सूचना प्राद्योगिकी ने परजीवी सटोरिया पूँजी को अकल्पनीय ऊँचाई तक पहुँचा दिया था। इसने मुट्ठी भर लोगों को एक काल्पनिक और हवाई समृद्धि का स्वाद चखाकर उन्हें रातों रात मालामाल कर दिया था। लेकिन आज सूचना प्राद्योगिकी का वही भस्मासुर दुनिया भर के शेयर बाजारों की तबाही का कारण बन रहा है। अटलान्टिक के दोनों ओर एक के बाद एक दैत्याकार बैंकों के दिवालिया होने और शेयर बाजारों के ताश के महल की तरह बहराने की मनहूश खबरों से अखबार भरे पड़े हैं। परजीवी वित्तीय पूँजी को बचाने का हर साम्राज्यवादी प्रयास अर्थव्यवस्था की और बड़ी तबाही की बुनियाद रख रहा है। आने वाला कल दुनिया भर से और भी बुरी-बुरी खबरें लाने वाला है। □

7 अक्टूबर 2008

भारत-अमरीका नाभिकीय समझौता

भारतीय इतिहास का एक काला अध्याय

□ ज्ञानेन्द्र

6 सितम्बर 2008 का दिन भारत के इतिहास में एक काले दिन की तरह याद किया जायेगा। परमाणु आपूर्तिकर्ता समूह (एन.एस.जी) के 45 देशों ने भारत के साथ परमाणु व्यापार पर 34 साल पहले लगाये गये प्रतिबन्धों को तो हटा दिया लेकिन इसके बदले में भारत के शासकों ने ऐसी अपमानजनक शर्तों को स्वीकार कर लिया जो देश की सम्प्रभुता और आत्मनिर्णय के अधिकार को गिरवी रखने वाली हैं। इसके साथ ही भारत-अमरीका नाभिकीय सहयोग समझौते का अस्तित्व में आना बस अब कुछ ही समय की बात रह गयी है। ऐसी ही कुछ और शर्तों के साथ अमरीकी कांग्रेस भी इसे पारित कर देगी और भारत की विदेश नीति अमरीकी साम्राज्यवाद के हितों के मातहत हो कर रह जाएगी।

एन.एस.जी. द्वारा प्रतिबन्ध हटाये जाने की खबर को अखबारों ने विजय-गर्व से प्रकाशित किया। देश के पूँजीपति वर्ग में खुशी की लहर दौड़ गयी। अमरीका, फ्रांस, रूस इत्यादि नाभिकीय आपूर्तिकर्ता देशों के पूँजीपति और व्यापारी खुश हुए कि उन्हें भारत में अरबों डालर के ठेके मिलेंगे। कांग्रेस और उसकी रीढ़ विहीन नेतृत्व के रोम-रोम में अमरीकी राष्ट्रपति बुश और साम्राज्यवादी समूह के दूसरे सरगनाओं के प्रति कृतज्ञता टपकने लगी और नाभिकीय ऊर्जा के क्षेत्र में निजी पूँजी निवेश का रास्ता खोलने की कवायद शुरू को गयी। लेकिन यह उत्साह बहुत ज्यादा समय तक टिका नहीं रहा। अमरीकी राष्ट्रपति द्वारा सीनेट के नाम लिखा एक पत्र 2 सितम्बर को सार्वजनिक किया गया था। एन.एस.जी. की बैठक और प्रतिबन्ध हटाये जाने के शोर-शराबे में इसके मजमून दबा दिये गये थे, लेकिन एक के बाद एक अमरीकी नेताओं और अधिकारियों के बयानों ने जिन्न को एक बार फिर बोटल से बाहर कर दिया।

कैसी विडम्बना है कि जो बातें हमसे छिपाने के लिए हमारे रहनुमा एड्डी-चोटी का जोर लगाते हैं, वे बातें हमें अमरीकी साम्राज्यवादियों से पता चल रही हैं। अमरीकियों को कोई लिहाज नहीं है क्योंकि वे अपने साम्राज्यवादी मन्सूबों के लिए खुलेआम काम करते हैं। लेकिन हमारे देश का शासक वर्ग भयभीत है। उसमें इतना साहस नहीं कि वह जनता को असली सच्चाई बता सके। इसीलिए वह हर तरह के तीन-तिकड़म और धूर्त चालों के जरिये देश के हितों की बलि चढ़ाता जा रहा है। संसद का बहुमत कैसे खरीदा गया, क्या यह किसी से छिपा है? बेहयाई से झूठ बोलने में तो जैसे इनका कोई सानी ही नहीं है।

देश-विदेश के पाठक जुलाई 2005 में भारत-अमरीका सुरक्षा ढाँचा समझौते से शुरू हुई नाभिकीय समझौते की प्रक्रिया में अभी तक जो उतार-चढ़ाव आये हैं उनसे काफी हद तक परिचित हैं। हम उनके विस्तार में नहीं जायेंगे। केवल हाल में सामने आये कुछ महत्वपूर्ण तथ्यों तक ही इस लेख को सीमित रखेंगे।

नाभिकीय आपूर्तिकर्ता देशों से भारत को विशेष दर्जा दिलवाने सम्बन्धी प्रस्ताव पारित करवाने से पहले अमरीकी सीनेट की विदेशी मामलों की कमेटी ने राष्ट्रपति बुश से 45 मुद्दों पर स्पष्टीकरण माँगा था। उन सभी राजनीतिक- तकनीकी प्रश्नों का जवाब देते हुए बुश ने 16 जनवरी 2008 को एक पत्र लिखा था जिसे हाल ही में सार्वजनिक कर दिया गया।

यह पत्र अमरीकी कांग्रेस से नाभिकीय समझौते को पारित करवाने से पहले उसे यह आश्वस्त करते हुए लिखा गया था कि इसमें अमरीकी हितों की गारण्टी सुनिश्चित है। अमरीका के लिए यह कोई गोपनीय दस्तावेज नहीं था, फिर भी इसे इतने दिनों तक इसलिए गुप्त रखा गया क्योंकि बुश ने इस पत्र में जितने बेबाक ढंग से सच्चाई को रखा था, उसका सामने आना भारत सरकार के लिए असुविधाजनक साबित होता। नाभिकीय समझौते को लेकर विरोध और अविश्वास मत का सामना कर रही भारत सरकार इस झूठ का पर्दाफास होते ही और गहरे संकट में फँस जाती। यह खुद अमरीका के हित में नहीं था, क्योंकि नाभिकीय समझौता की फिक्र उसे कहीं आधिक है। पत्र द्वारा किया गया खुलासा संक्षेप में इस प्रकार है

(1) 13 अगस्त 2007 को लोकसभा में मनमोहन सिंह ने अमरीका द्वारा “पूर्ण नाभिकीय सहयोग” और “निर्बाध नाभिकीय आपूर्ति का आश्वासन” दिये जाने का दावा किया था। इस दावे के विपरीत पत्र स्पष्ट करता है कि 123 समझौते के अनुच्छेद 5.6 में अमरीका केवल उन्हीं मामलों में इंधन की आपूर्ति की गारण्टी देगा जिनमें “भारत का अपना कोई दोष न हो” जैसे व्यापारिक होड़ या बाजार की दिक्कतों या किसी कम्पनी द्वारा करार के मुताबिक इंधन की आपूर्ति न हो पाना। लेकिन “नाभिकीय परीक्षण करने या परमाणु अप्रसार की वचनबद्धताओं का उल्लंघन करने के चलते” अगर इंधन आपूर्ति रोकी जाती है, तब अमरीका इसकी कोई गारण्टी नहीं लेता।

(2) 23 जुलाई 2008 को संसद के सामने मनमोहन सिंह ने दावा किया था कि “समझौते में ऐसा कुछ नहीं है जो हमें

नाभिकीय परीक्षण करने से रोक सके।” इसके विपरीत बुश का पत्र साफ-साफ कहता है कि 123 समझौते के अनुच्छेद 14 के मुताबिक “अगर भारत परमाणु-परीक्षण करता है तो अमरीका को यह अधिकार होगा कि वह भारत के साथ सभी तरह के नाभिकीय सहयोग को तत्काल प्रभाव से खत्म कर दे जिसमें इंधन की आपूर्ति रोकने से लेकर अमरीका द्वारा दिये गये कोई भी सम्बन्धित उपकरण, सामग्री या इंधन को वापस मँगवाना तक शामिल है।”

(3) मनमोहन सिंह ने 2 जुलाई 2008 को जारी एक प्रेस विज्ञप्ति में यह दावा किया था कि “123 समझौते के प्रावधान हाइड एक्ट के प्रावधानों के ऊपर है।” इसके विपरीत यह पत्र स्पष्ट करता है कि 123 समझौता “हाइड एक्ट की कानूनी जरूरतों से पूरी तरह संगत है।”

(4) 13 अगस्त 2007 को मनमोहन सिंह द्वारा दिये गये आश्वासन के विपरीत अमरीका नाभिकीय-परीक्षण करने, 123 समझौते या अन्तरराष्ट्रीय परमाणु ऊर्जा एजेंसी के साथ किये गये सुरक्षा समझौते का उल्लंघन होने की स्थिति में बिना किसी बातचीत के एकतरफा तौर पर नाभिकीय सहयोग और इंधन आपूर्ति पर रोक लगा सकता है। लेकिन भारत इसके बाद भी नाभिकीय ऊर्जा सम्बन्धी “सुरक्षा उपायों (अनुच्छेद 10), पुनर्संस्करण सहमति (अनुच्छेद 6) और शान्ति उपयोग (अनुच्छेद 9)” समझौतों को लागू करने के लिए बाध्य होगा।

(5) भारत सरकार ने दावा किया था कि समझौते में नाभिकीय आपूर्ति रुकने पर “समस्या निवारण के उपायों,” “पर्याप्त संचालन आवश्यकताओं” और “रणनीतिक इंधन भण्डारण” जैसे प्रावधान हैं, जिनसे भारत के हितों की रक्षा की जा सकती है। लेकिन पत्र के मुताबिक अमरीका ने भारत को ऐसी कोई स्पष्ट सहमति नहीं दी है। ये सभी प्रावधान अपरिभाषित छोड़ गये हैं और कोई ठोस वायदा नहीं किया गया है।

(6) पत्र के मुताबिक “अमरीकी सरकार इस समझौते के तहत या इसके बाहर, किसी भी तरह से, दोहरे इस्तेमाल में आने वाली सामग्री के हस्तान्तरण के जरिये संवेदनशील नाभिकीय तकनीक की प्राप्ति, डिजाइन, निर्माण, या संचालन में भारत को किसी तरह की पुनर्संस्करण और संवर्द्धन तकनीक का निर्यात नहीं किया जायेगा, जबकि 123 समझौते के तहत जब तक भविष्य में एक और समझौता नहीं हो जाता, जिसे होने में अभी कई साल लग सकते हैं, भारत परमाणु संवर्द्धन और पुनर्संस्करण के अपने मौजूदा कार्यक्रम को रोक देगा। पत्र के मुताबिक भावी समझौते का यह वायदा इसलिए किया गया है ताकि भारत सरकार जनता के सामने अपनी लाज बचा सके।

(7) मनमोहन सिंह द्वारा संसद में किये गये इन दावों के विपरीत कि भारत सरकार अन्तरराष्ट्रीय परमाणु ऊर्जा एजेंसी के अलावा किसी भी अन्य सुरक्षा उपायों को मानने के लिए

वचनबद्ध नहीं है, पत्र में कहा गया है कि “भारत सरकार इस बात से पूरी तरह सहमत है कि 123 समझौते के अनुच्छेद 10 के पैरा 1 के तहत सुरक्षा उपायों को केवल अन्तरराष्ट्रीय परमाणु ऊर्जा एजेंसी के सुरक्षा उपायों तक सीमित करके नहीं देखा जाना चाहिए।”

बुश ने अपना यह पत्र अमरीकी सीनेट के सामने अपने देश के साम्रज्यवादी हितों की गारण्टी करते हुए लिखा था। जाहिर है कि भारत और अमरीका के हित एक-दूसरे के विरोधी हैं। यही कारण है कि पत्र ने मनमोहन सरकार के झूठे दावों की कलाई खोल दी और उनकी दगाबाजी और बेहयाई को उजागर कर दिया। बुश के चर्चित पत्र के बाद कैपिटोल हिल को दो और दस्तावेज सितम्बर में पेश किये गये जो 123 समझौते से सम्बन्धित हैं। पहला – “हाइड एक्ट की धारा 104 (सी) की प्रतिपादन रिपोर्ट” और दूसरा – “नाभिकीय अप्रसार मूल्यांकन वक्तव्य।” ऊपर नाभिकीय समझौते की जिन साजिशों का पर्दाफाश किया गया है, ये दोनों दस्तावेज उन्हें और अधिक पुष्ट करते हैं। 10 सितम्बर को खुद राष्ट्रपति बुश ने बयान देकर यह साफ कर दिया कि इंधन आपूर्ति का आश्वासन अमरीका के लिए कानूनी बाध्यता नहीं है। नाभिकीय आपूर्तिकर्ता देशों की बैठक के दौरान अमरीका की कुटिल चाल सामने आई। समझौते के विरोधी 6 देशों के कोर ऑस्ट्रिया, आयरलैण्ड, नीदरलैण्ड, नार्वे, न्यूजीलैण्ड और स्विट्जरलैण्ड ने जो सवाल उठाये, वे हाइड एक्ट के प्रावधानों से अलग नहीं थे। वे चाहते थे कि भारत के परमाणु-परीक्षण करने की स्थिति में उसे परमाणु आपूर्ति रोक दी जाये और आपूर्ति की गयी सारी सामग्री वापस करने के लिए बाध्य किया जाये। इसके अलावा परमाणु संवर्द्धन तकनीक के हस्तान्तरण पर रोक लगायी जाये और समय-समय पर समझौते की व्यवस्था हो। ये सभी माँगें वही थीं जो अमरीकी हाइड एक्ट के तहत भारत पर बाध्यकारी हैं। बैठक में उठी उन माँगों को अमरीका की कितनी शह थी, इसका अन्दाजा इस बात से लगाया जा सकता है कि इस बैठक में अमरीका ने अपने किसी महत्वपूर्ण आदमी को नहीं भेजा था। इसके जरिये दबाव बनाकर उसने भारत को झुकने के लिए बाध्य किया। समझौते का नया दस्तावेज तैयार होने के बाद भी उसकी पैरवी के लिए अमरीका ने अपने मन्त्रालय के तीसरे नम्बर के आदमी राजनीतिक मामलों के उपमन्त्री विलियम बर्न्स को ही भेजा जिसने खुद उन देशों द्वारा उठाये गये मुद्दों को “महत्वपूर्ण” मानते हुए उनके “समाधान” की वकालत की। जाहिर है कि अमरीका इन सवालों को तब तक जिन्दा रखेगा जब तक भारत पूरी तरह झुक न जाये।

अन्ततः जिस मसौदे को पारित किया गया उसमें भारत का पक्ष और भी कमजोर है। परमाणु अप्रसार की वचनबद्धता के मामले में और झुकते हुए भारत ने उसके पालन का वचन दिया है। भारत “अभी तक वंचित देशों को नाभिकीय संवर्द्धन

तकनीक पाने से रोकने” के अन्तरराष्ट्रीय प्रयासों के साथ खुद को “पंक्तिबद्ध” करेगा। इसका मतलब है कि आगे भी ईरान जैसे मामलों में उसे अमरीकी रणनीति के पक्ष में मतदान करना होगा। नाभिकीय आपूर्तिकर्ता देशों ने भारत को जो छूट दी है उसे भारत की वचनबद्धताओं के पालन की कड़ी शर्तों से जोड़ दिया गया है। मसौदे के पैरा 2(बी) के मुताबिक भारत अपने प्रतिष्ठानों की निगरानी पर रोक नहीं लगा सकता। यह हाइड एक्ट का ही एक हिस्सा है। भारत द्वारा किसी किस्म के उल्लंघन की स्थिति में आपूर्तिकर्ता समूह के निर्देशों के पैरा 16 के तहत चर्चा और कार्रवाई का प्रावधान भी जोड़ा गया है जिसमें भारत को “परमाणु आपूर्ति पर रोक” लगाना भी शामिल है। पहले के मसौदे में आपूर्तिकर्ता समूह को अपनी शर्तों में कोई भी बदलाव करते समय भारत के साथ बराबरी पर विचार-विमर्श करना जरूरी था। लेकिन दूसरे मसौदे में इसे हटा दिया गया है। अब परमाणु आपूर्तिकर्ता समूह के देश एकतरफा तौर पर कोई भी नया प्रावधान तैयार करके भारत पर थोप सकते हैं।

स्पष्ट है कि अमरीका द्वारा बिछाये गये जाल में भारत फँस चुका है। देश का पूँजीपति वर्ग और उनके रहनुमा थोड़े से मुनाफे के लालच में देश को साम्राज्यवादी बेड़ियों में जकड़ने पर अमादा हैं। वे बहेलिये द्वारा फेंके गये दानों को देख रहे हैं, जाल को नहीं। अमरीका साम-दाम-दण्ड-भेद की नीति पर चलते हुए भारत के शासकों को चौतरफा समझौतों के महाजाल में उलझाता जा रहा है। ये सभी समझौते एक दूसरे से अलग होते हुए भी पूरी तरह से जुड़े हुए हैं। हर समझौते में भविष्य के और बहुत से समझौते और प्रलोभन छिपे रहते हैं और वे पहले वाले समझौतों को अमल में लाने की पूर्व-शर्त होते हैं। इस तरह किसी भी समय समझौते को रद्द करने की धमकी देकर अमरीका दूसरे देश पर दबाव बना सकता है और उसे झुकने के लिए मजबूर कर सकता है। इसी तरह, अमरीका किसी भी देश को धीरे-धीरे अपने जाल में फँसाता जाता है। वर्तमान नाभिकीय समझौते को अमरीका कभी भी रद्द करने के लिए आजाद है लेकिन भारत के शत्रुसहयोगी, कमजोर और लोलुप शासकवर्ग के लिए अपने संकीर्ण स्वार्थों के चलते ऐसा करना क्रमशः बहुत मुश्किल होता चला जायेगा। अपने कुकर्मों का औचित्य निरूपण करने के लिए वे और भी बेहयाई के साथ झूठ का सहारा लेने के लिए बाध्य होंगे।

मौजूदा पद-धन-लोलुप, बिकाऊ सांसदों के बहुमत के बीच से किसी विकल्प के पैदा होने के भ्रम में रहना भोलापन होगा। बहुतां ने तो संसद में विश्वास-मत के समय तक समझौते को पढ़ा भी नहीं था। उन विपक्षी पार्टियों की ओर किसी विकल्प के लिए देखना भी नादानी होगी जो खुद भी अमरीका से रणनीतिक साझेदारी चाहती हैं और जिनके विरोध की वजह सिर्फ इतनी ही है कि उनके करकमलों से यह “शुभ” काम क्यों

नहीं सम्पन्न हो रहा है। उन क्षेत्रीय पार्टियों में या उनके किसी मोर्चे में विकल्प तलाशना भी बेकार है जिनकी नस-नस में अवसरवाद व्याप्त है और जिन्हें सिर्फ अपने क्षेत्र या अपने वोट बैंक से मतलब है। उस संसदीय वामपन्थ से भी उम्मीद करना व्यर्थ होगा जो अपमान के घूँट पीकर भी संसदीय गलियारों के बाहर जनता के बीच इन मुद्दों को ले जाने के लिए तैयार नहीं है और संयुक्त मोर्चा बनाने के बहाने कभी इस पार्टी तो कभी उस पार्टी के नेता के साथ मिलकर पूँजीवादी संसदीय लोकतन्त्र की पालकी ढोता रहता है।

देश की जनता के भीतर से पैदा हुआ कोई नया राजनीतिक उभार और हलचल ही देश को इस संकट से मुक्ति दिला सकता है। जाहिर है कि ऐसा खुद-ब-खुद नहीं होगा।

15 सितम्बर 2008

गुजरात : एक और फर्जी मुठभेड़

सुप्रीम कोर्ट ने गुजरात सरकार के खिलाफ फर्जी मुठभेड़ के एक और मामले में नोटिस जारी किया है। अपने पुत्र प्रणेश कुमार पिल्लै उर्फ जावेद गुलाम मोहम्मद की फर्जी मुठभेड़ में हत्या की सी.बी.आई. जाँच की माँग को लेकर सुप्रीम कोर्ट में याचिका दायर करने वाले गोपीनाथ पिल्लै ने इससे पहले गुजरात राज्य के मुख्य सचिव से जाँच करवाने की अपील की थी, जिस पर कोई कार्रवाई नहीं की गयी।

प्रणेश कुमार पिल्लै केरल का रहने वाला था और ट्रेवेल एजेंट का काम करता था। उसने इस्लाम धर्म कबूल कर लिया था और अपना नाम बदलकर जावेद गुलाम मोहम्मद रख लिया था। उसके खिलाफ न तो पहले से कोई पुलिस केस था और न ही गुजरात पुलिस ने आतंकवादियों से उसका सम्बन्ध साबित करने वाला कोई सबूत अभी तक पेश किया।

याचिका दायर करने वालों ने कहा कि “फर्जी मुठभेड़ के सभी मामलों को देखकर ऐसा लगता है कि निर्दोष लोगों, खासकर मुसलमानों को आतंकवादी संगठन जैसे-ए-मोहम्मद का सदस्य होने और मोदी की हत्या के षड्यन्त्र में शामिल होने का झूठा आरोप लगाकर, मारा जा रहा है।”

कौसर बी मामले पर विस्तृत लेख में “देश-विदेश” में भारतीय लोकतन्त्र के असली चेहरे को बेनकाब किया गया था जहाँ मोदी जैसे हत्यारे बेखौफ सत्ता पर काबिज हैं तथा आतंकवाद से लड़ने के नाम पर मुसलमानों को उत्पीड़ित करने उन्हें फर्जी मुकद्दमों में फँसाने, देशभक्ति की आड़ में निर्दोष लोगों की हत्या करने और हिन्दुओं को आत्मघाती दस्ते बनाने का खुला आह्वान करने वाले अपना वोट-बैंक बढ़ाकर सत्ता हथियाने का मसूबा बनाते हैं। इस व्यवस्था में न्याय की उम्मीद करना बेमानी है।

संसद में वोट के बदले नोट

क्या है, जिसकी परदेदारी है

□ मुकेश कुमार

नोट के बदले वोट और उससे जुड़ा सीडी प्रसंग एक धारावाहिक में तब्दील हो चुका है। जिसको देखो वही कान्फ्रेंस बुलाकर सीडी बाँट रहा है और बता रहा है कि असली सच की दुकान उसी की है, बाकी सब फर्जी हैं। मगर जितने सच सामने आ रहे हैं भ्रम उतना ही बढ़ता जा रहा है। स्टिंग ऑपरेशन की रिकार्डिंग अगले ही दिन लोकसभा अध्यक्ष को सौंप दी थी। मगर आलम ये है कि उमा भारती से लेकर अमर सिंह और अरुण जेटली तक सबके पास अपने-अपने सच को साबित करने के लिए सीडी के अपने-अपने संस्करण हैं। मुश्किल ये है कि वही चुप है जिसको सबसे ज्यादा बोलना चाहिए यानी उस चैनल को जिसने भारतीय जनता पार्टी के साथ सांसदों की खरीद-फरोख्त को कैमरे में कैद करने की 'समझ' दिखायी थी, इसीलिए न्यूज चैनल (सीएनएन-आईबीएन) पर हर तरफ से उँगलियाँ उठ रही हैं। कहा जा रहा है कि चैनल ने ऐसा करके सरकार को बचाने में मदद की। सबसे बड़ा आरोप है कि उसने एक राजनीतिक दल और व्यापारिक घराने के दबाव में आकर ऐसा किया। इन आरोपों की सच्चाई सामने आये या न आये मगर पत्रकारिता के इतिहास में ऐसा पहली बार हुआ है कि किसी अखबार या चैनल ने कोई खबर प्रकाशित या प्रसारित करने के बजाय वह किसी और को सौंपकर हाथ झाड़ लिये। चैनल के इस कदम ने मीडिया की भूमिका और उसके काम करने के तौर-तरीकों पर ही सवालिया निशान लगा दिये हैं। लेकिन सरकार का विश्वास मत परीक्षण और इस स्टिंग ऑपरेशन को न दिखाये जाने को अगर हम टुकड़ों में देखेंगे तो सच्चाई परदे में ही रह जायेगी। इसके लिए इस कांड को पूरे परिप्रेक्ष्य में देखना चाहिए।

हालाँकि ये सही है कि मीडिया का राजनीति के लिए उपयोग होता रहा है और वह उद्योगपतियों या व्यापार जगत के प्रभाव-दबाव में हमेशा से ही रहा है। मगर इस बार जिस तरह से स्टिंग ऑपरेशन के प्रसारण को रोका गया वह इस बात का साफ संकेत है कि पूँजी का प्रभाव किस हद तक बढ़ गया है और ये पूँजी देशी ही नहीं विदेशी भी है। आखिकार परमाणु करार को लेकर सरकार की बेकरारी केवल मनमोहन सिंह का परमाणु-हठ नहीं था। बेशक वे कमजोर प्रधानमंत्री की अपनी छवि को सुधारने के लिए सरकार और देश को दाँव पर लगाने पर आमादा थे और हैं, मगर हमें ये भी देखना चाहिए कि अमरीका और जॉर्ज बुश का हाथ उनकी पीठ पर है। यही वजह थी कि बुश प्रशासन एक तरफ तो बार-बार उन्हें और उनकी सरकार को आश्वस्त कर रहा था और दूसरी ओर विभिन्न राजनीतिक दलों और उनके नेताओं को संदेश देकर माहौल बनाने में भी लगा हुआ था। अमरीकी नेताओं और

अधिकारियों का विभिन्न पार्टियों के नेताओं से मिलना, ये बयान देना कि वे अल्पमत सरकार से भी समझौता करेंगे और विश्वास मत हासिल करने के तुरन्त बाद व्हाइट हाउस से बधाई का संदेश आना बताता है कि बिसात कितनी बड़ी बिछायी गयी थी। अब ऐसे में ये मानना नादाना ही समझी जाएगी कि भारतीय और बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के जरिये मीडिया को नाथने का काम अमरीकी हुकूमत ने नहीं किया होगा, खासतौर पर ऐसे मीडिया संस्थानों में जहाँ अमरीकी पूँजी लगी हुई हो। वाममंथी दलों तथा प्रकाश कारात को जिस तरह से राष्ट्र हितों के खिलाफ खलनायक दिखाने की खुल्लम-खुल्ला कोशिशें हुईं उसमें इस सच्चाई को पढ़ा जा सकता है। इसके अलावा सरकार गिराने और बचाने के इस उपक्रम में अंबानी बंधुओं और दूसरे थैलीशाहों ने सांसदों और मीडिया पर कितना धन और ताकत खर्च किया होगा इसका तो अनुमान ही लगाया जा सकता है, मगर उनकी खुली उपस्थिति संदेह की कोई गुंजाइश नहीं छोड़ती।

ये सही है कि सांसद खरीदो अभियान का ये स्टिंग ऑपरेशन कई मायनों में ऐतिहासिक था, अभूतपूर्व था। ये पहला अवसर था जब घोषित तौर पर किसी एक राजनीतिक दल यानी बीजेपी के सांसदों और न्यूज चैनल के साथ मिलकर इसे अंजाम दिया। राजनीतिक दल क्या चाहता था ये समझना मुश्किल नहीं है और इसीलिए वह संसदीय मर्यादाओं को लांगते-तोड़ते वहाँ तक जा पहुँचा जहाँ अभी तक कोई नहीं पहुँचा था। सांसदों ने विश्वास मत परीक्षण पर संसद में बहस के दौरान सदन के भीतर ही नोटों की गड़्डियाँ लहाराते हुए सबसे सनसनीखेज दृश्य भी रच डाला। संसद ही क्यों टेलीविजन के लिए भी ये एक अभूतपूर्व दृश्य था। शुचिता का ढिंढोरा पीटने वाली बीजेपी के तीन सांसद (जिनमें से दो पहले ही दागी थे) बता रहे थे कि दल बदलने के लिए उन्हें एक करोड़ रुपये बतौर पेशगी दिये गये हैं। इस नजारे को देश ही नहीं दुनिया भर ने लाइव देखा। संसदीय राजनीति के पुजारी इसे संसद का अपमान और लोकतंत्र को शर्मिंदा करने वाली हरकत बता रहे हैं। हालाँकि संसद को लोकतंत्र का मंदिर समझने वालों को पता नहीं था कि वह दलाल-मन्डी में तब्दील हो चुकी है और लोकलाज एवं लोकहित के देवी-देवता तो वहाँ से कबके कूच कर चुके हैं।

इस कांड ने राजनीति के पतन को जितना रेखांकित किया है उससे ज्यादा नहीं तो कम भी नहीं, मीडिया की भूमिका और सीमाओं को भी साफ कर दिया है। चैनलों का काम है कि वह जानकारियों को दर्शकों के सामने रखे न कि इस या उस कारण

को हवाला देकर उसे उनसे वंचित कर दे। इन पंक्तियों को लिखे जाने तक स्टिंग को लेकर रहस्य बना हुआ है और यही रहस्य चैनल की नीयत को प्रश्नों के घेरे में खड़ा कर रहा है। सबसे बड़ा प्रश्न तो यही है कि वह लोकसभा अध्यक्ष की शरण में गया क्यों? ये मीडिया का काम नहीं है और न ही इसके लिए वह बाध्य है बिना माँगे वह टेप जाँच के लिए सौंप दे। उसकी इसी हरकत की वजह से ये सवाल उठा कि क्या उस पर स्टिंग को न दिखाने के लिए कोई दबाव था या वह खुद ही सत्तारूढ़ दल की मदद करना चाहता था इसीलिए उसने यह कदम उठाया। ऐसे समय में जब सांसदों को खरीदने-बेचने के आरोपों से राजनीति में उबाल आया हुआ था, इससे मौजूद स्टिंग ऑपरेशन भला क्या हो सकता था। इससे साबित होता था कि ए.बी. वर्धन भरी जनसभा में सांसदों की कीमत 25 करोड़ तक लगाये जाने की बात हवा में नहीं कर रहे थे। लेकिन चैनल ने इसे नहीं दिखाया। क्यों नहीं दिखाया? इसे दिखाने से किसे नुकसान हो सकता था? जाहिर है कि अगर स्टिंग में वह सब होता है जो कि भाजपा सांसदों का दावा है तो सत्तारूढ़ दल के विश्वास परीक्षण के परखचे उड़ जाते।

चैनल दलील दे रहा है कि उसने जो भी रिकार्डिंग की उससे ये निष्कर्ष नहीं निकलता था कि सचमुच में सांसदों को खरीदा-बेचा जा रहा था, उसने ये भी कहा है कि रिकार्डिंग बहुत ही धुंधली है। मगर उसकी ये दलील किसी के भी गले नहीं उतर रही, क्योंकि समाजवादी पार्टी और भाजपा ने एक दूसरे पर हमले करते हुए जो सीडी मीडिया को दिखाई हैं, वे वैसी ही हैं जैसी कि किसी भी स्टिंग ऑपरेशन में होती हैं। रिकार्डिंग ऐसी धुंधली नहीं है कि कुछ नजर ही न आए। भाजपा ने इन दलीलों को खारिज करते हुए जो विवरण दिये हैं उन्हें भी अनदेखा नहीं किया जा सकता। उसने पूरे स्टिंग का ब्यौरा भी दिया है, जबकि चैनल की तरफ से इस बारे में कुछ भी नहीं कहा जा रहा, स्टिंग ऑपरेशन को न दिखाने की कुछ और वजहें भी बतायी जा रही हैं। कहा जा रहा है कि ऐसे समय जबकि संसद एक महत्वपूर्ण मामले पर वोट करने वाली थी इस तरह की खबर दिखाना राजनीति में हस्तक्षेप होता। मगर इस स्टिंग ऑपरेशन को न दिखाना क्या राजनीति में हस्तक्षेप नहीं है और क्या मीडिया को राजनीति में हस्तक्षेप करने से बचना चाहिए? क्या ये सच्चाई नहीं है कि हर खबर राजनीति को किसी न किसी रूप में प्रभावित करती ही है? और अगर ये सच है तो फिर मीडिया का सारा कारोबार ही अवैध हो जाता है। सांसदों के विशेषाधिकारों की आड़ भी ली जा रही है, मगर पहले हुए स्टिंग ऑपरेशनों में भी तो दर्जनों सांसदों को बेनकाब किया गया था और उनमें से बहुतों की सदस्यता भी चली गयी थी। तब तो उन चैनलों ने विशेषाधिकार का बहाना नहीं बनाया था और न ही इस आधार पर उनके खिलाफ कोई कार्रवाई ही कि गयी थी। इसलिए इस आधार पर खबर न दिखाने का मकसद सिवाय सच को छिपाने के कुछ और नहीं हो सकता। हम सब अपने

अनुभव से ये कह सकते हैं कि जब चैनल कुछ साबित करना चाहते हैं तो धुंधली तस्वीरें और अधूरी खोज आदि की रुकावटें देखते ही नहीं हैं। वे तो दृश्यों को जूम इन करके या उन्हें दस तरीकों से हजार बार दिखाते हैं और साबित कर डालते हैं कि ऐसा या वैसा हुआ था।

भले ही चैनल ने टेप लोक सभा अध्यक्ष को सौंप कर अपने बचाव का रास्ता ढूँढ लिया हो मगर इससे शक और भी गहरा हो गया है। अब तो जब तक वह रिकार्डिंग को बिना काट-छाँट के दिखायेगा नहीं तब तक उस पर सन्देह बना रहेगा। उसे जैसे भी हो रहस्य से पर्दा उठा देना चाहिए, उन मुखड़ों को दिखा देना चाहिए जो स्टिंग ऑपरेशन में लेन-देन की भूमिका निभा रहे थे। इससे राजनीति का चेहरा तो बेनकाब होगा ही, मीडिया की बनती-बिगड़ती शक्ति लोग देख लेंगे। लोगों को पता तो चले की मीडिया उनके साथ है या सत्ता और उद्योगपतियों के दलालों के साथ। इसलिए चैनल का ये कहना ठीक नहीं है कि संसदीय जाँच चल रही है और पहले उसे पूरा होने देना चाहिए। अव्वल तो दोनों का कोई सम्बन्ध नहीं है। पत्रकार किसी अपराध की जाँच तक पत्रकारिता स्थगित नहीं करते। आरुषी कांड तो ये बताता है कि वे जाँच एजेंसी से ज्यादा सक्रिय रहते हैं। दूसरे, पहले हुई तमाम संसदीय जाँच लीपा-पोती साबित होती रही है, इसलिए उन पर लोगों को ज्यादा यकीन नहीं है। अब ये लोगों पर छोड़ दिया जाना चाहिए कि वे देखें और तय करें कि सच्चाई क्या है और अमर सिंह और अहमद पटेल ने डील और सरकार बचाने के लिए गैर कानूनी तरीके अपनाये या नहीं। ये स्टिंग हर लिहाज से महत्वपूर्ण है। इससे यह साबित होता है कि सत्तारूढ़ गठबन्धन ने जो विश्वास मत जीता है वह कितना वैध है।

बहरहाल, मीडिया की भूमिका पर बात करते हुए हमें ये नहीं भूलना चाहिए की आखिरकार वह एक व्यापारिक गतिविधि है और कोई भी संस्थान अपने आर्थिक हितों को दौब पर लगाकर तमाशा न देखता है न दिखाता है। ऐसे समय में जब अमरीकी लॉबी के अलावा समूचा उद्योग-व्यापार जगत, देसी-विदेशी पूँजी, बाजार, सत्ता प्रतिष्ठान और मध्य वर्ग परमाणु डील के पक्ष में झुका हुआ हो तो मीडिया उनसे मुँह कैसे मोड़ सकता था। उसे इन्हीं सबसे डील करना है, इसलिए परमाणु डील के मामले में अगर वह भी डीलर की भूमिका निभाने लगा हो तो हैरत नहीं होनी चाहिए, बल्कि अगर वह ऐसा न करता तो आश्चर्य होता।

अब ऐसे में बेचारे सम्पादक को दोष क्यों दिया जाय। दुनिया के इस छोर से उस छोर तक फैली इस बिसात में उसकी हैसियत एक मोहरे से ज्यादा नहीं हो सकती। उसे भी अपने चैनल के हित-अहित देखने होते हैं और तब तो और भी ज्यादा जबकि वह खुद भी उस चैनल के मालिकों में से एक हो। □

(लेखक एक चैनल समूह से सम्बन्ध हैं और अरसे से टेलीविजन की दुनिया से जुड़े हुए हैं। हंस, सितम्बर 2008 से साभार)

अमरीकी मंदी : वित्तीय पूंजी का दिवाला

□ संजय

अमरीकी वित्तीय संकट अब एक नए दौर में प्रवेश कर गया है। एक के बाद एक बड़ी-बड़ी वित्तीय कम्पनियों के दिवालिया होने की खबरें आ रही हैं। मई 2008 में सब प्राइम कर्ज संकट के कारण बीयर स्टर्न बैंक की तबाही से अमरीकी अर्थव्यवस्था में अफरा-तफरी मच गयी थी। सितम्बर 2008 में दो बड़े निवेश बैंकों लेहमन ब्रदर्स और मेरिल लिंच और अमरीकी इण्टरनेशनल ग्रुप (ए.आई.जी.) के डूबने की धमक पूरी दुनिया में महसूस की गयी। यहाँ तक कि मुम्बई शेयर बाजार भी इससे अछूता नहीं रहा। इन तीनों कम्पनियों की हैसियत बीयर स्टर्न से कई गुना अधिक है। इनका डूबना अमरीका में लगातार गहराते आर्थिक संकट का स्पष्ट प्रमाण है। शीर्षस्थ अर्थशास्त्रियों ने तो यहाँ तक कहा है कि यह मन्दी 1929 के बाद की सबसे बड़ी मन्दी है।

158 साल पुराने अमरीका के चौथे बड़े निवेश बैंक लेहमन ब्रदर्स को अमरीकी रिजर्व बैंक भी डूबने से नहीं बचा पाया। उस पर कुल 613 अरब डॉलर का कर्ज है। लगातार घाटे में चलने वाले लेहमन ब्रदर्स ने कर्ज से उबरने के लिए चैप्टर 11 के तहत दिवालिया घोषित किए जाने के लिए आवेदन किया था। इस नियम के मुताबिक कोई भी बैंक खुद को दिवालिया घोषित करके अमरीकी फेडरल रिजर्व से अरबों डालर की सहायता पा सकता है। लेकिन इस बार ऐसा नहीं हुआ। नतीजतन लेहमन ब्रदर्स अपनी 94 फीसदी सम्पत्ति गँवाकर दिवालिया हो गया। इस घटना ने साम्राज्यवादी अर्थव्यवस्था से जुड़े ढेर सारे सवाल को सतह पर ला दिया। इसके तुरन्त बाद अमरीका के तीसरे सबसे बड़े बैंक मेरिल लिंच और बीमा कम्पनी ए.आई.जी. की बर्बादी ने संकट को एक बिल्कुल ही नये और खतरनाक स्तर पर ला दिया है।

व्युत्पत्तियों (डेरिवेटिव्स) का कुल कारोबार दुनिया की कुल सम्पत्ति से दस गुना अधिक है। व्युत्पत्तियों के सागर में दुनिया की अर्थव्यवस्था एक छोटी-सी नाव की तरह है। अगर व्युत्पत्तियों के ढेर सारे सट्टेबाज अपने कागजी बाण्डों में दर्ज सम्पत्ति को एक साथ माँगने लगे तो अर्थव्यवस्था की नाव का डौंवाडोल होना लाजिमी है। कुछ दिनों से अमरीकी अधिकारी वालस्ट्रीट कान्सोर्टियम को लेहमन ब्रदर्स की सहायता के लिए राजी कर रहे थे कि वह इस कम्पनी में 40 से 70 अरब डालर का निवेश करे। लेकिन इंग्लैण्ड का बर्कलेज बैंक स्थिति की भयंकरता से डरकर भाग खड़ा हुआ।

मार्च में फेडरल रिजर्व ने बीयर स्टर्न को और उसके बाद

राजस्व विभाग ने फेनी माए और फ्रेडी मैक को संकट से उबारा था, इसलिए ऐसा लगा कि लेहमन ब्रदर्स को बचाने के लिए भी वे आगे आयेंगे। फेडरल रिजर्व के ऐसे कदमों ने ही इन वित्तीय जॉको को जोखिम की परवाह किये बगैर बड़े दाँव लगाने के लिए उकसाया था। लेहमन ब्रदर्स को बचाने से तो यह बात एकदम पुष्ट हो जाती कि फेडरल रिजर्व अमरीकी जनता की गाढ़ी कमाई से जमा टैक्स हर बार इन कम्पनियों को उबारने में झोंक देता है। यानी इन कम्पनियों की मुनाफे की हवस की कीमत आम जनता को नये टैक्सों और महँगाई के लगातार बढ़ते बोझ के रूप में चुकानी पड़ती है।

जब उद्धार के लिए कोई खरीदार आगे नहीं आया तो आखिरकार लेहमन ब्रदर्स डूब गयी। इसके साथ ही कम्पनी के 25,000 कर्मचारी बेरोजगार हो गये। इन कर्मचारियों के पास कम्पनी के एक तिहाई शेयर हैं जिनका मोल कौड़ी के बराबर भी नहीं रहा। अब इन कर्मचारियों को रोजी-रोटी के लिए दर-दर भटकना पड़ेगा। 1994 से वाल स्ट्रीट में सबसे तेज-तरार माने जाने वाले लेहमन के मालिक डिक फुल्ड का कैरियर भी खत्म हो गया।

कम्पनी ने दुनिया भर में 500 अरब डालर का कर्ज दिया था, जिनमें से केवल 350 अरब डालर की वसूली हो पायी। लेकिन इस डूबे हुए 150 अरब डालर ने बाजार में कुल 20,000 अरब डालर का संकट पैदा कर दिया। इसका असर भी कई देशों में फैल गया है। जापान के मित्सुबिसी यू.एफ.जे. वित्तीय समूह को 7.7 फीसदी और ऑस्ट्रेलिया के बेवकांक और ब्राउन को सबसे ज्यादा 34 फीसदी का नुकसान हुआ। अमरीका के ए.आई.जी. के क्रेडिट में 61 फीसदी की गिरावट आयी। वित्तीय व्यवस्था में अभेद्य मानी जाने वाली चीनी दीवार भी ढह गयी। 6 सालों में पहली बार चीन को ब्याज दरों में कमी करनी पड़ी क्योंकि उसका निर्यात लगातार गिरता जा रहा था।

इस संकट से भारत भी अछूता नहीं रहा। आई.सी.आई. सी.आई. बैंक को भारत में 3 करोड़ डालर अर्थात् लगभग 150 करोड़ रुपये का नुकसान हुआ। भारत में सरकारी बैंको ने भी अब सट्टेबाजी करना शुरू कर दिया है। स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया और पंजाब नेशनल बैंक का 50-50 लाख डालर लेहमन ब्रदर्स में निवेश के कारण डूब गया। लेहमन ब्रदर्स की भारतीय शाखा में काम कर रहे 2,500 कर्मचारियों को अपनी नौकरी से हाथ धोना पड़ा। लेहमन ब्रदर्स में भारतीय आई.टी. कम्पनियों

कन्सल्टेन्सी, सत्यम् कम्प्यूटर्स और विप्रो का सालाना 1,600 करोड़ का कारोबार होता था जो अब खत्म हो जायेगा। इन कम्पनियों ने अपने यहाँ कर्मचारियों की भर्ती कम कर दी है और छुट्टी पर भी विचार कर रही हैं। इसके चलते आई.आई.टी. और अन्य संस्थानों में कैम्पस प्लेसमेण्ट बहुत घट जायेगा। अमरीका की आई.टी. कम्पनी हेवलेट पैकर्ड (एच.पी.) विश्व भर में 25,000 कर्मचारियों की छुट्टी पर विचार कर रही है जिसका प्रभाव भारत पर भी पड़ेगा।

भारतीय प्रबन्धन संस्थान (आई.आई.एम.) से पढ़कर निकलने वाले छात्रों को सबसे ज्यादा नौकरी देने वाली संस्था लेहमन ब्रदर्स थी। बर्बाद हुए बैंकों ने पिछले साल आई.आई.एम. बैंगलोर के 20 फीसदी, कलकत्ता के 90 फीसदी और अहमदाबाद के 45 फीसदी एम.बी.ए. छात्रों को नौकरी दी थी। कम्पनी के साथ-साथ इनका भविष्य भी संकट में पड़ गया। यह उनके मुँह पर जोरदार थपड़ है जो कहते हैं कि बाजार सब कुछ खुद तय कर देता है। अब यह बात साफ है कि बाजार बहुत से लोगों को भिखारी भी बना देता है।

लेहमन ब्रदर्स के दिवालिया घोषित होने के ही दिन बॉम्बे स्टॉक एक्सचेंज (बी.एस.ई.) का शेयर 728 अंक और निफ्टी का 222 अंक नीचे गिर गया था। रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया शेयर बाजार की सेहत सुधारने के लिए अब तक 7 अरब डालर लगा चुकी है जिससे रुपये का मूल्य घटकर 46 रुपये प्रति डालर हो गया। इस तरह, रुपये का मूल्य घटने से महँगाई बढ़ गयी। यानी महँगाई के जरिए पैसा चूसकर सरकार शेयर बाजार के परजीवी सट्टेबाजों को बचा रही है।

लेहमन ब्रदर्स की बरबादी का दुनिया की अर्थव्यवस्थाओं पर जो असर हुआ उससे सबक लेकर अमरीकी फेडरल रिजर्व ने अगली दिवालिया कम्पनी अमरीकी इन्टरनेशनल ग्रुप (ए.आई.जी.) को बचाने के लिए 85 अरब डालर मंजूर किया है। अमरीकी सरकार अपने वित्तीय बाजार को पटरी पर लाने के लिए करदाताओं के 700 अरब डालर बाजार में झोंकने जा रही है। उसने बाजार से प्रतिभूतियों की भारी खरीद करके उनके मालिकों को बेतहाशा फायदा पहुँचाया है। टोक्यो से फ्रैंकफर्ट तक के केन्द्रीय बैंकों ने अपने-अपने शेयर बाजारों में कुल 160 अरब डालर की आहुति दी है।

लेहमन ब्रदर्स और अमरीकी इन्टरनेशनल ग्रुप की बर्बादी के बाद सेक्योरिटी एण्ड एक्सचेंज कमीशन (एस.ई.सी.) ने 799 वित्तीय कम्पनियों के शेयरों की खुदरा और छोटी अवधि की बिक्री पर रोक लगा दी। यह कदम शेयर बाजार को डॉवाडोल होने से बचाने के लिए उठाया गया क्योंकि संकट के समय अफरा-तफरी के माहौल में कई कम्पनियाँ और शेयर दलाल घबराहट में शेयर बेचकर भाग जाना चाहते हैं जिससे संकट और गहरा हो जाता है। सितम्बर के तीसरे सप्ताह में ही इस भूचाल से दुनिया भर के शेयर बाजारों में तीन लाख करोड़ डालर डूब गये जो भारत की कुल विदेशी मुद्रा भण्डार का लगभग दस गुना है। इस वित्तीय संकट ने साम्राज्यवादियों की अकड़ डीली कर

दी और उनकी असली औकात दिखा दी।

सवाल यह है कि जब बीयर स्टर्न और लेहमन ब्रदर्स ने फर्जी तरीके से अपने शेयरों के दाम 30 से 40 गुना बढ़ा दिये थे तब वित्तीय बाजार का नियामक अमरीकी सेक्यूरिटी एण्ड एक्सचेंज कमीशन क्या कर रहा था? जिस कम्पनी के पास महज 26 करोड़ डालर हो, लेकिन वह 600 करोड़ का शेयर जारी करके उस पर सट्टेबाजी का कारोबार करती हो उसकी बर्बादी तो निश्चित ही है। कुछ समय पहले जब एस.ई.सी. ने अपने मूल्यांकन में इन कम्पनियों को सर्वश्रेष्ठ बताया था उस समय क्या उसे इन सट्टेबाजों की असलियत का पता नहीं था? जब संकट तेजी से बढ़ रहा था तो फेडरल रिजर्व चुप क्यों था, क्यों उसने अपने कानून-पालकों और एस.ई.सी. को इन कम्पनियों के खिलाफ कार्रवाई के लिए नहीं कहा? लेकिन अन्ततः जब बर्बादी का आलम छा जाता है तो उन्हें दण्डित करने के बजाय फेडरल रिजर्व अपनी पूरी ताकत उन्हें उबारने में लगा देता है।

दुनिया जानती है कि इन वित्तीय जोकों को नियन्त्रित करना असम्भवप्राय है। दुनिया भर की करिश्माई प्रतिभाएँ आज शेयर बाजार को बचाने में लगी हुई हैं लेकिन वे उसे बचा नहीं पा रही हैं। जब एनरॉन कम्पनी धाराशायी हुई तो हार्वर्ड से एम.बी.ए. किए हुए और मैकेंजी से सलाह प्राप्त विशेषज्ञों के भी हाथ पैर फूल गये। एकाउंटिंग और रेटिंग करने वाली एजेन्सियों ने भी एनरॉन की फर्जी रेटिंग करके खूब कमाया। सिर से पाँव तक परजीवी पूँजी के कीचड़ से सने इन वित्तीय जोकों को नियन्त्रित करने वाला खुद भी वित्तीय जोक हो जाता है।

शेयर बाजार की परजीवी पूँजी आदमी को इतना निकम्मा और कामचोर बना देती है कि वह मात्र इस पूँजी का व्यसनी और बुरी आदतों का शिकार बन जाता है। यही हालत विश्व की बड़ी-बड़ी रेटिंग एजेंसियों की भी हुई है।

छोटे निवेशकों को धोखा देने के लिए इन वित्तीय कम्पनियों और रेटिंग एजेंसियों ने आपसी मिली-भगत से जटिल वित्तीय उपकरण, जैसे बॉण्ड, डेट, ऑप्शन, फ्यूचर्स आदि बना रखा है और भविष्य में भी ऐसा ही करेंगी। व्यक्तिगत रूप से इनके कर्त्ता-धर्त्ताओं पर संकट का बहुत ज्यादा असर नहीं हुआ है। वे आज भी अमीर हैं। बस ठगी-बेईमानी करके दुनिया के सबसे बड़े अमीरों की श्रेणी में शामिल होने का उनका ख्वाब टूट गया। लेकिन इन कम्पनियों के हजारों आम कर्मचारियों की जिन्दगी में भूचाल आ गया है।

कुल मिलाकर, सट्टेबाजी के भँवर में फँसी अमरीकी अर्थव्यवस्था इससे निकलने के लिए चाहे जितना भी हाथ-पाँव मार ले, अपनी अन्तर्निहित पतनशीलता से इसकी मुक्ति सम्भव नहीं है। अमरीकी फेडरल रिजर्व के अधिकारी हद-से-हद संकट को एक और बड़े संकट आने तक के लिए टाल सकते हैं और वे यही कर रहे हैं।

□

बिहार में बाढ़ : कोसी का कहर

□ रजनीश उपाध्याय

पहला दृश्य : तारीख 20 अगस्त, 2008। सुपौल जिले के त्रिवेणीगंज प्रखंड का कोरियापट्टी गाँव कोसी की बाढ़ में घिर गया। युवक अरुण अपने माता-पिता के साथ साइकिल पर जरूरी सामान लेकर जदिया नहर की पटरी के रास्ते से निकला। रास्ते में नहर टूटकर कोसी की धारा से मिल गयी थी। लहरों से जूझते हुए आगे बढ़ा तो साइकिल हाथ से छूट गयी। मुड़कर देखा तो माता-पिता का कोई पता नहीं था। वह पैदल चलकर त्रिवेणीगंज और फिर दूसरे दिन मधेपुरा पहुँचा। मधेपुरा शहर में पानी घुसा तो सहरसा चला गया और फिर ट्रेन से पटना। उसके माता-पिता का कोई अता पता नहीं है।

दूसरा दृश्य : 15 सितंबर, 2008। सहरसा जिले के सोनवर्षा राज प्रखंड का एक सुदूरवर्ती गाँव बरसम। 20 दिनों से कोसी की बाढ़ में चौतरफा घिरे इस गाँव में सेना के जवान मोटरबोट लेकर राहत बाँटने आये हैं। भारी कोलाहल, एक दूसरे को धकियाकर आगे बढ़ते लोग। आठ परिवारों के मुखिया सत्यनारायण यादव को दो किलो चूड़ा और एक कंबल मिला है। वीरेन्द्र मालाकार को दो प्लेट और एक लुंगी से संतोष करना पड़ा। राहत के सामान कम हैं, सो सबके बीच थोड़ा-थोड़ा बँटा। इस गाँव में राहत बाँटने में सैनिकों के करीब ढाई घंटे लगे। सत्यनारायण ने सेना के मेजर से सवाल दागा 'दो किलो चूड़ा में आठ जनों का हमारा परिवार कितने दिन गुजर करेगा?'

18 अगस्त को नेपाल में कुसहा के समीप कोसी नदी का तटबंध टूटने के बाद जो हालात उत्पन्न हुए, उसकी ये दो बानिगियाँ हैं। कोसी की बाढ़ सैकड़ों लोगों की जिंदगी, रोजी-रोटी और रोजगार बहा ले गयी। कोसी का पानी फिलहाल तो उतर गया है, लेकिन बिहार के मधेपुरा, सुपौल, सहरसा, पूर्णिया और अररिया जिले में लाखों लोग जिंदगी की जद्दोजहद में लगे हैं। सरकारी आँकड़ों पर ही भरोसा करें, तो करीब 32 लाख लोग कोसी की बाढ़ से प्रभावित हुए हैं। तीन लाख मकान ध्वस्त हो चुके हैं और करीब साढ़े

तीन लाख लोग सरकारी शिविरों में रह रहे हैं। मृतकों की सही-सही संख्या तो मानसून खत्म होने के बाद ही पता चलेगा। (बर्बादी का आंकड़ा देखें बॉक्स में)

कोसी के कहर के बाद तेज हुई राजनीतिक बहस इसके इर्द-गिर्द घूम रही है कि कुसहा तटबंध टूटने के लिए जिम्मेदार कौन है। पक्ष-विपक्ष ने इसलिए भी एक-दूसरे पर प्रहार तेज किया है कि अगले साल लोकसभा चुनाव है। बिहार पर 15 साल तक प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से शासन करने वाले लालू प्रसाद ने इसके लिए सीधे तौर पर वर्तमान नीतीश सरकार को जिम्मेदार ठहराया है, जबकि नीतीश सरकार ने अपने बचाव में यह तर्क दिया कि कोसी तटबंध की मरम्मत नहीं किए जाने के कारण वह जर्जर हो चुका था और भयंकर बाढ़ के दबाव को सह नहीं सका। उनका यह भी कहना है कि नेपाल की जनता ने तटबंध की मरम्मत में बाधा डाली। पूर्वी तटबंध टूटने के बाद सरकारी स्तर पर जोर-शोर से यह बात फैलायी गयी कि कोसी ने डेढ़ सौ वर्षों के बाद अपना रास्ता बदल दिया है। वह अब नयी धारा की तलाश कर रही है। लेकिन, सवाल उठता है कि पहले कोसी की धारा को किसने मोड़ा था? जाने-माने बाढ़ विशेषज्ञ दिनेश कुमार मिश्र तो स्पष्ट तौर पर कहते हैं कि कोसी ने खुद धारा नहीं बदली, बल्कि प्राकृतिक धारा को रोक कर उसे जबरन बराज या तटबंध के भीतर लाया गया। कोसी नदी में हर साल गाद जमती जा रही है, उसकी गहराई कम हो रही है और जब पानी की मात्रा और दबाव बढ़ता है, तो बाँध का टूटना स्वाभाविक है। कोसी की प्राकृतिक धारा को तो बाँधा गया, लेकिन तटबंध और बाँध का प्रबंधन नहीं किया गया। जल संसाधन विभाग के दस्तावेज बताते हैं कि कोसी तटबंध पर पानी के दबाव की जानकारी सरकार को नौ अगस्त को हो चुकी थी लेकिन, केन्द्र व राज्य सरकार के लापरवाह अधिकारी चैन की नींद सोये रहे।

कोसी की नयी धारा में बिहार के पाँच जिलों के करीब सात सौ गाँव आते हैं। इनमें से कुछ का तो अब अस्तित्व

भी मिट चुका है। नेपाल के करीब दर्जन भर गाँवों में भारी तबाही हुई है, क्योंकि जब एक लाख 14 हजार क्यूसेक पानी में से करीब 90 फीसदी हिस्सा कोसी की नयी धारा से होकर निकला तो उसने नेपाल के गाँवों को निगलते हुए बिहार में प्रवेश किया और करीब दस दिनों बाद कटिहार के निकट कुरुसेला में आकर गंगा नदी में मिला।

कोसी के जल प्रलय के बाद बचाव व राहत की बद-इंतजामी ने नीतीश सरकार के कथित सुशासन की पोल खोल कर रख दी। कारपोरेट अंदाज में चलने वाली उनकी सरकार एक सप्ताह बाद तक इसे सामान्य बाढ़ मानती रही। राष्ट्रीय मीडिया ने भी शुरुआती दिनों में इसे तवज्जो नहीं दी। सात दिनों बाद 24 अगस्त को मुख्यमंत्री ने इसे प्रलय कहा, तब जाकर इस पर सरकारी मशीनरी के साथ-साथ मीडिया का भी ध्यान गया। 27 अगस्त को प्रधानमंत्री ने बाढ़ग्रस्त क्षेत्रों का दौरा किया और

इसे राष्ट्रीय आपदा घोषित किया गया। तब तक काफी वक्त गुजर चुका था और कोसी का पानी लगातार लोगों को डुबोते, कहर ढाले आगे बढ़ता जा रहा था। आपदा प्रबंधन को लेकर गोष्ठी व सेमिनार कराने वाली केन्द्र व राज्य सरकार के पास नावें तक नहीं थीं कि डूबते हुए लोगों को बचाया जा सके। सैकड़ों लोग पूरे सप्ताह जहाँ-तहाँ भूखे-प्यासे पानी में फँसे रहे। कुछ जैसे-तैसे भागकर निकले। जो बह गये, उनका कोई आधिकारिक आँकड़ा अब तक नहीं आ पाया है। बाढ़ को लेकर जहाँ राज्य सरकार कई दिनों तक सुस्त बनी रही, वहीं केंद्र सरकार की लापरवाही का पता इससे चलता है कि राष्ट्रीय आपदा घोषित होने के एक माह बीत जाने के बावजूद इसे लेकर अभी तक केंद्रीय मंत्रिमंडल की बैठक भी नहीं बुलाई गयी। नियमानुसार राष्ट्रीय आपदा घोषित होने के तत्काल बाद बैठक का आयोजन किया जाना था। सहरसा, सुपौल, मधेपुरा, अररिया और पूर्णिया के एक बड़े हिस्से में जो तबाही हुई है, उसकी भरपाई करने में वर्षों लग जायेंगे। बाढ़ से घिरे गाँवों में रह रहे लोगों के सामने भोजन एक बड़ी समस्या है। राहत शिविरों में एक ही टेंट के नीचे लोग जैसे-तैसे ठुंसे पड़े हैं। महेशखुँट से सहरसा जाने वाले राष्ट्रीय उच्च पथ संख्या 107 के दोनों किनारों पर एक नयी बस्ती आबाद हो गयी है। राहत

सामग्री लेकर कोई वाहन यहाँ पहुँचा नहीं कि एक पैकेट को लपक लेने के लिए सैकड़ों हाथ एक साथ बढ़ जाते हैं। भूख से बेहाल लोगों का गुस्सा रह-रहकर फूट पड़ता है। पानीपत की एक एनजीओ को हाल ही में राहत सामग्री छोड़कर भागना पड़ा। लोग धक्के व लाठियाँ खाकर भी कुछ हासिल करना चाहते हैं क्योंकि उनका सबकुछ लुट चुका है। पानी कम हो जाने के बाद बड़ी संख्या में लोग डायरिया और निमोनिया के अलावा भूख के कारण एनीमिया की बीमारी से ग्रस्त होकर

अस्पतालों में भरती हो रहे हैं। लेकिन अस्पतालों में भी दवा-इलाज का कोई इंतजाम नहीं है।

पलायन और विस्थापन कोसी के इलाके की एक दुखद पहचान रही है। इन इलाकों से फिर से बड़ी संख्या में नौजवान दिल्ली, पंजाब या हरियाणा का रुख कर रहे हैं। जो कल तक किसान थे, अब मजदूर बनने जा रहे हैं। कोसी ने खेतों में बालू का शिल्ट जमा कर

दिया है। इससे करीब एक लाख हेक्टेयर कृषियोग्य भूमि के बंजर हो जाने की आशंका व्यक्त की जा रही है। यानी कोसी के इलाके के लोगों को लंबे समय तक त्रासदी झेलनी होगी। राज्य सरकार ने भारी दबाव के बाद कुसहा तटबंध के टूटने के कारण की जाँच के लिए हाइकोर्ट के रिटायर्ड जज की अध्यक्षता में एक न्यायिक जाँच आयोग का गठन किया है। लेकिन इसके पीछे भी बाढ़ के कारणों की तलाश कम, राजनीति ज्यादा दिखती है। इस आयोग में बाढ़, नदी या तटबंध के किसी तकनीकी विशेषज्ञ को नहीं रखा गया है, जबकि इसी आयोग को भविष्य में ऐसी घटनाओं की पुनरावृत्ति रोकने के उपायों पर सुझाव भी देना है। नीतीश सरकार बाढ़ पीड़ितों के आक्रोश को देखते हुए प्रभावित पाँचों जिलों में पुनर्वास की बड़ी-बड़ी योजनाओं की घोषणाएँ कर रही है। फिलहाल उन्हें एक-एक क्विंटल अनाज बाँट कर शान्त कराया जा रहा है। बिहार में हर साल आने वाली बाढ़ नौकरशाहों, ठेकेदारों और कुछ राजनेताओं के लिए लहलहाती फसल की माफिक होती है। लेकिन इस बार बाढ़ नहीं, जल प्रलय है। ऐसे में राहत व पुनर्वास को लेकर नीतीश सरकार के कथित सुशासन की असलियत की परीक्षा भी होने वाली है। □

कोसी का कहर

- प्रभावित जिले पाँच (मधेपुरा, अररिया, सहरसा, सुपौल व पूर्णिया)
- प्रभावित गाँव-1006
- आबादी प्रभावित-32.17 लाख
- प्रभावित पशु-10.90 लाख
- मकान ध्वस्त-तीन लाख
- मौत-150 (सही आँकड़ा तो बाढ़ का पानी उतरने के बाद ही आएगा।)

बिहार में बाढ़ : प्रलय नहीं, यह बुलायी गयी आपदा है

□ रेयाज-उल-हक

राज्य के करीब 30 लाख लोगों को प्रभावित करने वाली कोसी की इस बाढ़ ने भले ही एक बड़े भूभाग को डुबोया है, लेकिन इसने देश के पूरे शासन तंत्र की संवेदनहीनता को सतह पर ला दिया है। इस बाढ़ को, जिसे मुख्यमंत्री नीतीश कुमार प्रलय कहते नहीं थक रहे हैं, दरअसल उनके ही तंत्र ने निम्नित किया और जिस तरह की खबरें धीरे-धीरे सामने आ रही हैं, वे इसे पुष्ट करती हैं कि एक जनसंहार की तरह दिखनेवाली यह बाढ़ कोई प्रलय नहीं है, बल्कि जान-बूझ कर की गयी लापरवाही का नतीजा है।

नेपाल में कुसहा के पास कोसी पर बना पूर्वी एफ्लक्स बाँध टूटा है। कोसी बराज के बीच से कोसी गुजरे, इसके लिए कोसी पर नेपाल के चतरा से भीमनगर में बने बराज तक लगभग 32 किमी लंबा बाँध बनाया गया है, जिसे एफ्लक्स बाँध कहा जाता है। यह बाँध नेपाल की जमीन पर बना है जिसे भारत ने 199 वर्षों की लीज पर नेपाल से लिया है। बराज सहित इस बाँध की देख-रेख की जिम्मेदारी भारत सरकार की है जिसके एजेंट के बतौर बिहार सरकार को यह जिम्मेदारी निभानी होती है। बाँध पर सुरक्षा मुहैया कराने की जिम्मेदारी नेपाल की है।

कुसहा के स्थानीय लोग बताते हैं कि बाँध पर बना डॉल जो कि नदी की धारा को बाँध के बीच में बहने देने के लिए बने होते हैं ताकि पानी का प्रवाह बाँध को काटने न लगे, लंबे समय से कट रहा था। लेकिन भारतीय (बिहार सरकार के) इंजीनियरों ने इसे गंभीरता से नहीं लिया। जिन दिनों कोसी कुसहा के पास पूर्वी एफ्लक्स बाँध को 12.90 किमी आरडी पर काट रह थी, वहाँ सिर्फ दो गाड़ियाँ बोल्टर ढो रही थीं और कुछ दर्जन मजदूरों से जैसे-तैसे काम लिया जा रहा था। ऐसा नहीं था कि बाँध की देख-रेख में लगे इंजीनियर स्थिति की गंभीरता से अनभिज्ञ थे और वे यह नहीं जानते थे कि अगर बाँध टूटा तो कितनी बड़ी तबाही हो सकती है। बिहार सरकार के मुख्य अभियंता सत्यनारायण ने नौ अगस्त को एक त्राहिमाम संदेश पत्र, फैक्स एवं टेलीग्राम के जरिये काठमांडू स्थिति भारतीय दूतावास में तैनात कोसी परियोजना के बिहार सरकार के सम्पर्क अधिकारी अरुण कुमार सिंह को भेजा। इसमें उन्होंने न सिर्फ कटाव के बारे में लिखा था, बल्कि उन्होंने इससे आसन्न तबाही के बारे में भी लिखा था। यह संदेश उन्होंने बिहार सरकार के

जलसंसाधन सचिव सहित 11 अधिकारियों को भी भेजा। लेकिन इस पर कोई कार्रवाई नहीं हुई। अगले आठ दिनों तक, जब तक बाँध टूट नहीं गया, बिहार सरकार प्रतिदिन एक रूटीन सूचना जारी करती रही कि राज्य के सभी बाँध-तटबंध सुरक्षित हैं।

काठमांडू स्थित कोसी परियोजना में बिहार सरकार के एक अधिकारी 18 अगस्त तक छुट्टी पर थे और उनको भेजे गये संदेश उनकी टेबल पर यूँ ही पड़े रहे। इस बीच सत्यनारायण ने 14 और 15 अगस्त को फिर से अपने संदेश सभी जगहों पर भेजे, लेकिन उन्हें किसी ने गंभीरता से नहीं लिया। अंततः 18 अगस्त को बाँध टूट गया।

सत्यनारायण ने अपने संदेश में बार-बार लिखा कि नेपाल के कस्टम विभाग के अधिकारी भारत की ओर से जा रही निर्माण सामग्री से भरे वाहनों को बेवजह काफी देर तक रोक रहे हैं, जिसके चलते मरम्मत संभव नहीं हो पा रही है। साथ ही यह भी शिकायत की थी कि स्थानीय मजदूरों को कटाव की मरम्मत में लगने से रोका जा रहा है और भगाया जा रहा है।

बाद में सरकार की ओर से भी बाँध टूटने की ये ही वजहें बतायी जाती रहीं। कहा गया कि अधिक मजदूरी की माँग करते हुए नेपाली मजदूरों ने हड़ताल कर दी या उन्हें ऐसा करने के लिए उकसाया गया। इससे बाँध की मरम्मत का काम ठप हो गया लेकिन कुसहा के लोग जो बातें बताते हैं, वह कुछ दूसरी की कहानी सामने लाती हैं।

अशोक कुमार साह का घर कटान स्थल से लगभग 500 मीटर दूर है। पानी भरने के बाद वे दूसरी जगह रह रहे हैं। वे कहते हैं 'यह पूरी बात ही झूठी है। मजदूरों ने मजदूरी बढ़ाने की माँग जरूर की थी, लेकिन काम करने से मना नहीं किया था और न ही किसी ने उन्हें रोका था। यह कहानी सिर्फ अपने को बचाने के लिए गढ़ी गयी है।

अयूब अंसारी कई सवाल पूछते हैं 'अगर मजदूरों ने काम करने से मना किया था या किसी ने उन्हें रोका था तो कहीं कोई शिकायत क्यों नहीं की गयी? जाकर पूछिए जिला कार्यालय में, क्या वहाँ दर्ज है कोई शिकायत? या कहीं दूसरी जगह? और अगर मजदूरों ने काम करने से मना कर दिया था, तब भी बाँध पर बोल्टरों का रिजर्व तो होना चाहिए था। वे कहाँ थे? जब बाँध पर कटाव चल रहा था, तब सिर्फ दो-तीन गाड़ियाँ ही काम

कर रही थीं, ऐसा क्यों हुआ?’

स्थानीय लोग एक और बात सुनाते हैं। वे बताते हैं कि उन्होंने बाँध टूटने से पहले इसकी मरम्मत में लगे इंजीनियरों-ठेकदारों को कहते सुना था कि बाँध को टूट जाने दो। बहुत दिन से काम नहीं हुआ कोसी प्रोजेक्ट में।

अशोक कुमार साह कहते हैं ‘बाढ़ को तो जान-बूझकर बुलाया गया।’ यह कहने के पीछे उनके पास कई तर्क हैं। वे थोड़ा पीछे जाते हैं ‘जब मैं पाँचवीं कक्षा में था, 22 वर्ष पहले पूर्वी एफ्लक्स बाँध के पास कोसी एक पतली धारा की तरह बहती थी। तब 60 से 70 ट्रक बोल्टर रखे जाते थे, ताकि बाढ़ की आशंका हो तो उन्हें डाला जा सके। लेकिन पिछले सात वर्षों से रिजर्व बोल्टर रखना बंद था। इसके अलावा जितना जरूरी था, उसका सिर्फ दो से तीन प्रतिशत काम ही होता था। असल बात यह है कि बाँध की मरम्मत का काम लगातार कम होता गया है।’

अयूब अंसारी कहते हैं ‘पहले जहाँ भी डॉल या बाँध कटता था, उस जगह मरम्मत करके उसे पूर्ववत कर दिया जाता था। पिछले सात-आठ वर्षों से सभी टूट और कटान ज्यों का त्यों

छोड़े जा रहे थे। इसके अलावा सिल्ट भी नहीं निकाली जा रही थी।’ वे पूछते हैं ‘क्या ऐसे में बाँध का टूटना कोई हैरत की बात है?’

बाँध पर ही मिलते हैं नेपाल की कम्युनिस्ट पार्टी (माओवादी) की सुनसरी जिला कमेटी सदस्य शारदा प्रसाद दहाल। सिल्ट साफ नहीं किये जाने की बात वे भी कहते हैं ‘चार-पाँच वर्ष से तो बाँध की कोई देखभाल हो ही नहीं रही थी। मजदूरों को खदेड़ने की बात गलत है। अगर ऐसा था तो सरकार केन्द्र तक क्यों नहीं गयी? देवी विपत्ति तो इसे लोगों को भरमाने के लिए कहा जा रहा है। यह तो साफ-साफ ‘नेग्लिजेंसी’ के कारण आयी विपत्ति है।’

...लेकिन हम देखते हैं कि बात सिर्फ संवेदनहीनता और लापरवाही की नहीं है। बाढ़ आती है तो अपने साथ पैसों की बाढ़ भी लाती है। हजारों-लाखों लोग डूबते हैं, बरबाद होते हैं, लेकिन एक तबका ऐसा भी होता है जो दोनों हाथों से पैसा बटोरता है। अब यह अंदाजा लगाने के लिए रॉकेट विज्ञानी होने की जरूरत है क्या कि वह तबका कौन-सा है? और यह भी कि यह बाढ़ क्यों बुलायी गयी?

□

धारा बदलने के लिए कुख्यात कोसी

नेपाल से आकर बिहार के भीमनगर में प्रवेश करने वाली कोसी नदी अपनी धारा बदलने के लिए ‘कुख्यात’ रही है। सवा दो सालों में यह नदी करीब 110 किलोमीटर पश्चिम की ओर खिसकती गयी है। इसका प्राकृतिक बहाव उत्तर से दक्षिण की ओर है और यह कटिहार के निकट कुरसेला में आकर गंगा से मिलती है। नेपाल में इसे सप्तकोसी कहा जाता है, क्योंकि इसकी सात धाराएँ हैं। इनके नाम हैं सनकोसी, तमा कोसी, अरुण, दूध कोसी, इंद्रावती, लिखू और तमार। 1953-54 में नेपाल के साथ हुए समझौते के तहत कोसी की चंचल प्रवृत्ति को तटबंध बनाकर बाँधा गया था। भीमनगर के समीप बराज का भी निर्माण किया गया। लेकिन, तब से लेकर अब तक इसने सात बार तटबंध को तोड़ा है। 1963 में डलबा (नेपाल) में पहली बार तटबंध टूटा। 1968 में जमालपुर के समीप इसका तटबंध पाँच स्थानों पर टूटा और इससे भारी तबाही हुई। 1991 में जोगनिया (नेपाल) और 1984 में हेमपुर (बिहार) में तटबंध टूटा। तटबंध

के निर्माण के समय यह आकलन किया गया था कि यह नौ लाख घनफुट प्रति सेकंड पानी के बहाव को बर्दाश्त करेगा। तब इसकी उम्र 25 वर्ष मानी गयी थी। यह अवधि कब की बीत चुकी है और 18 अगस्त, 2008 को कुसहा के समीप जब तटबंध टूटा, तो उस समय कोसी का जलबहाव मात्र एक लाख 44 हजार क्यूसेक था। मार्च 1966 में प्रकाशित अमरीकन सोसायटी ऑफ सिविल इंजीनियरिंग की एक रिपोर्ट के मुताबिक कोसी के पेट में प्रतिवर्ष करीब दस करोड़ क्यूसेक गाद जमा हो रहा है। तटबंध टूटने की एक बड़ी वजह इसे माना जा सकता है। मीडिया व राजनेताओं द्वारा अक्सर यह भ्रम फैलाया जाता है कि नेपाल के पानी छोड़ने के कारण बिहार में बाढ़ आती है। यह अपने निकम्मेपन और लापरवाही को दूसरे पर ठेलना है। सच्चाई यह है कि नेपाल के पास ऐसा कोई स्थान नहीं है कि वह पानी का भंडारण करे। यहाँ तक कि भीमनगर बराज पर भी बिहार सरकार का नियंत्रण है। □

ओड़ीशा में ईसाइयों के खिलाफ साम्प्रदायिक हमला

□ अमरपाल

23 अगस्त की रात कन्धमाल (ओड़ीशा) में विश्व हिन्दू परिषद के एक स्थानीय नेता लक्ष्मणानन्द की कुछ अज्ञात हमलावरों ने हत्या कर दी। इस घटना के बाद लगभग एक महीने तक ओड़ीशा ही नहीं, बल्कि कर्नाटक, केरल और मध्य प्रदेश सहित देश के कई राज्यों में हिन्दू कट्टरपन्थियों ने ईसाइयों पर जानलेवा हमले और चर्चों को आग के हवाले करने की सैकड़ों वारदातों को अन्जाम दिया। भाकपा (माओवादी) द्वारा इस हत्या की जिम्मेदारी लेने के बावजूद हिन्दू साम्प्रदायिक संगठनों का खूनी खेल जारी रहा। जाहिर है कि इस घटना के बहाने इन संगठनों ने ईसाइयों पर हमले की अपनी पूर्व निर्धारित योजना को अन्जाम दिया।

ओड़ीशा में पूरे कन्धमाल जिले और खुरदा, बाढ़गढ़, सुन्दरगढ़, सम्बलपुर, कोरापुट, बोध, मयूरभंज और जगतसिंहपुर जिले के कई स्थानों पर हिंसा और आगजनी का ताण्डव रचा गया। 23 अगस्त को ही 558 घर और 17 चर्चों को जलाकर राख कर दिया गया। मुख्यमन्त्री की उपस्थिति में राज्य के मुख्य सचिव ने इनकी पुष्टि की।

राज्य सरकार अल्पसंख्यक ईसाइयों की सुरक्षा का आश्वासन देती रही और हथियारों से लैस कट्टरपन्थी संगठन खुलेआम जुलूस निकालकर गरीब दलित और आदिवासी ईसाइयों के घरों व चर्चों को जलाते रहे। रैकिया इलाके में बेमियादी कर्पूरू के बावजूद विहिप के 12 घण्टे के बन्द के दौरान वहाँ तीन ईसाइयों को मार डाला गया। 60 हजार से भी अधिक आदिवासी ईसाइयों को अपनी जान बचाने के लिए भागकर जंगलों में शरण लेनी पड़ी। राज्य और केन्द्र सरकार धृतराष्ट्र की तरह आँख बन्द किये हाथ पर हाथ धरे बैठी रही। सरकारी आँकड़ों के मुताबिक 20 सितम्बर तक इन हमलों में 25 ईसाइयों को जान से मार डाला गया, 37 चर्चों को आग के हवाले किया गया, कुल 97 चर्चों पर हमले किए गये और सैकड़ों घरों को जला कर राख कर दिया गया।

ओड़ीशा में दंगाइयों ने वहाँ गाँव में रहने वाले हिन्दुओं को भी नहीं बख्शा। रजनी माँझी एक गरीब हिन्दू लड़की थी जो चर्च में ही रहकर वहाँ अनाथ बच्चों की देखभाल और अपनी

पढ़ाई करती थी। बलवाइयों ने उसके साथ बलात्कार किया और चर्च के साथ उसे भी जलाकर मार डाला। इसी दौरान एक अन्य हिन्दू गयाधर की भी उन्होंने हत्या कर दी। पिछले वर्ष सितम्बर में जब लक्ष्मणानन्द की हत्या की धमकी का बहाना बनाकर ईसाइयों पर हमला किया गया था, तब हिन्दू परिवारों ने आदिवासी ईसाइयों की भरपूर मदद की थी। लेकिन इस बार इन दंगाइयों की धमकी और डर से हिन्दू आदिवासियों ने अपने पड़ोसी आदिवासी ईसाइयों की सहायता नहीं की।

कर्नाटक में भी धर्मांतरण के बहाने बजरंग दल के कार्यकर्ताओं ने दक्षिण कन्नड़, उडुपी और चिकमंगलूर जिले में दर्जनों चर्चों पर हमले किये। ऐसा लगता है कि ईसाई विरोधी हिंसा आज कट्टर हिन्दूवादी संगठनों का राष्ट्रीय कार्यक्रम बन गयी है। यह बात तथ्यों से परे है कि आदिवासी पहले हिन्दू थे और ईसाई मिशनरियों ने ईसाइयत का प्रचार-प्रसार करके गरीब और उपेक्षित आदिवासियों को जबरन ईसाई बना लिया और इसलिए विश्व हिन्दू परिषद को यह अधिकार है कि वे उन्हें उनके पुराने धर्म में वापस ले आयें। आदिवासियों का धर्म और पूजा-पद्धति, देवी-देवता हिन्दू धर्म से बिल्कुल अलग रहे हैं। सामाजिक भेदभाव और आर्थिक बदहाली से तंग आकर वे ईसाइयत के प्रभाव में आते चले गये। हिन्दूवादी संगठन ही जोर जबरदस्ती, प्रलोभन और आतंक के बल पर उन्हें हिन्दू बनाने का प्रयास कर रहे हैं। वे इस काम में रुकावट डालने वाले दलित और आदिवासी ईसाइयों को निशाना बनाने का और हत्या-आगजनी का कोई भी मौका हाथ से जाने नहीं देते।

इन हिन्दू बलवाइयों ने अपने खिलाफ सख्ती करनेवाले पुलिसकर्मियों को भी निशाना बनाना शुरू कर दिया। मंगलवार को करीब 500 लोगों की भीड़ ने ओड़ीशा में गोच्चापाड़ा पुलिस थाने पर हमला किया। भीड़ ने एक पुलिस कर्मी को मार डाला और 15 मिनट के भीतर कई चर्चों और घरों को निशाना बनाया। कर्नाटक में ईसाइयों के खिलाफ पहली बार हिंसा की घटनाएँ पिछले साल जुलाई और सितम्बर में हुई थीं। भाजपा ने पिछले साल फरवरी में ही जनता दल (सेकूलर) के साथ मिलकर पहली बार वहाँ सत्ता की कमान संभाली थी। आज

जहाँ-जहाँ भाजपा की सरकार है या वह सत्तारूढ़ गठबन्धन में शामिल है, वहीं ईसाइयों के खिलाफ हिंसा की घटनाएँ अधिक हो रही हैं। आजादी के बाद से 1998 तक ईसाइयों पर जितने हमले हुए थे, उससे कहीं ज्यादा केन्द्र में भाजपा गठबन्धन सरकार बनाने के बाद 1999 में साल-भर के अन्दर हुए थे।

गुजरात के डांग इलाके से शुरू हुई ये घटनाएँ धीरे-धीरे ओड़ीशा, मध्य प्रदेश, केरल, छत्तीसगढ़, राजस्थान और कर्नाटक के कई इलाकों में फैलती चली गयी। ओड़ीशा सरकार ने सुप्रीम कोर्ट में इस बात से इन्कार किया था कि राज्य में साम्प्रदायिक हिंसा जारी है। जबकि उसके एक दिन पहले ही एक चर्च और ईसाई समुदाय के करीब 100 घरों को आग के हवाले करने की खबर आई थी। सच्चाई पर परदा डालने का नवीन पटनायक के राज में यह अकेला उदाहरण नहीं है। कुछ बरस पहले जब ओड़ीशा में भूख से आदिवासियों की मृत्यु हो रही थी, तब पटनायक ने कहा था कि ये मौतें भूख से नहीं बल्कि आम की गुठली खाने से हुई हैं।

ओड़ीशा के ताजा हालात में नवीन पटनायक आदिवासी ईसाइयों की सुरक्षा करने और दंगाइयों पर कार्रवाही करने से लगातार क्यों बच रहे हैं? इसकी प्रमुख वजह है कि इनकी सरकार भाजपा के समर्थन पर निर्भर है। इसलिए ओड़ीशा सरकार ने 24 अगस्त को लक्ष्मणानन्द की हत्या की न्यायिक जाँच को मन्जूर कर लिया। लेकिन विपक्षी पार्टियों और ईसाई समुदाय द्वारा ईसाइयों पर हमले की सी. बी. आई. जाँच की माँग को खारिज कर दिया। इस भेदभाव को क्या समझा जाये? यह बात किसी से छिपी नहीं है कि लक्ष्मणानन्द की हत्या के बाद पूरे राज्य में ईसाइयों के खिलाफ हिंसा फैलाने में विश्व हिन्दू परिषद और बजरंग दल की खुली भूमिका रही है। खबरों के अनुसार बजरंग दल और विश्व हिन्दू परिषद ने बाकायदा एक प्रेस कॉन्फ्रेंस बुलाकर खुलेआम हमलों की जिम्मेदारी ली और इन्हें हिन्दू भावनाओं की रक्षा के लिए जरूरी करार दिया। इसी तरह गुजरात के दंगों में भी विश्व हिन्दू परिषद और बजरंग दल ने कैमरे के सामने खड़े होकर गुजरात के दंगों की जिम्मेदारी ली थी। तब भी हमारे कानून व संसद ने कुछ नहीं किया और आज भी कुछ नहीं कर रहे हैं। भाजपा अगर सत्ता में न होती तो क्या विहिप और बजरंग दल वहाँ इतनी मनमानी कर पाते? आखिर धार्मिक उन्माद की भावना भड़काने की इनकी हिम्मत इतनी क्यों बढ़ी? ऐसा बहुत-सी जगहों पर देखने में आया है कि ईसाइयों पर हमलों के समय पुलिस चुपचाप खड़ी तमाशा

देखती रही। आज ओड़ीशा भी दूसरा गुजरात बनता जा रहा है जबकि पहले ओड़ीशा की छवि कभी साम्प्रदायिक नहीं रही।

केन्द्र सरकार भी कोई ठोस कदम उठाने और ईसाई समुदाय में सुरक्षा का एहसास पैदा करने के बजाये सिर्फ झूठी हमदर्दी और बयानबाजी करती रही। आज पूरे देश में अल्पसंख्यक मुसलमानों और ईसाइयों पर हमले हो रहे हैं और आतंकवाद रोकने के नाम पर उन्हें राज्य के आतंक का शिकार बनाया जा रहा है। गुजरात दंगा पीड़ितों की सहायता करना तो दूर गुजरात सरकार ने राहत कैम्प भी बन्द कर दिये थे। आज 6 साल बाद भी गुजरात दंगों से पीड़ित मुसलमान डर के कारण वापस घर नहीं जाना चाहते हैं।

आज हिन्दूवादी संगठन भी आई. एस. आई. प्रायोजित आतंकवादियों की तरह काम कर रहे हैं। कानपुर और नान्देड़ में बम बनाते समय बजरंग दल के कार्यकर्ताओं का विस्फोट में मारा जाना, उनके घर से भारी मात्रा में विस्फोटक सामग्री, मुस्लिम टोपी, नकली दाढ़ी और बुर्का बरामद होना इस बात का सबूत है। इन घटनाओं पर मीडिया ने पूरी तरह चुप्पी साध ली। ऐसे दोहरे व्यवहार से क्या मुस्लिम साम्प्रदायिकता को परोक्ष रूप से बढ़ावा नहीं मिलेगा?

अयोध्या मुद्दे से पहले देशभर में भाजपा के केवल 2 सांसद थे। साम्प्रदायिक जहर घोलकर ही ये सत्ता पर काबिज हुए थे। गुजरात में भी साम्प्रदायिक दंगे कराकर ही भाजपा ने अपना आधार मजबूत किया। यह सिलसिला अभी जारी है, क्योंकि चुनाव सिर पर है और पूरे देश में, कहीं ईसाइयों पर, कहीं मुसलमानों पर हमले करके या दंगे फैलाकर वोटों का साम्प्रदायिक ध्रुवीकरण किया जा रहा है। कांग्रेस और अन्य पार्टियाँ भी भाजपा के इस नक्शे-कदम पर चल रही हैं। धर्मनिरपेक्षता केवल संविधान के पन्नों में ही रह गयी है।

आज देश की 80 फीसदी जनता रोजी-रोटी के लिए तरस रही है। उसकी जिन्दगी बद से बदतर होती जा रही है। जिसके दम पर सारा देश चलता है उस जनता की समस्याओं का कोई समाधान देश के इन रहनुमाओं के पास नहीं है। इसलिए आज हर पार्टी प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष रूप से साम्प्रदायिकता, जातिवाद और क्षेत्रवाद के आधार पर फूट पैदा करके जनता को गुमराह करने के षड्यन्त्र में लिप्त है। अपने इस षड्यन्त्र में ये पार्टियाँ सफल भी हो रही हैं क्योंकि पूरे देश में जनता इनका विरोध नहीं कर पा रही है। हम कब तक चुपचाप तमाशा देखते रहेंगे? जनता की संगठित ताकत ही इन हालात को बदल सकती है।

□

जीवन से खतरा है, इसे खत्म करो

□ नवनीत

‘जीवन को खत्म कर दो!’ ‘जीवन का नामोनिशान मिटा दो!’ ‘जीवन से हमें खतरा है।’ ‘जीवन का हमारे धर्म से, मजहब से, रिलिजन से कोई मेल नहीं!’ पिछले दिनों केरल की गलियों में अचानक ऐसे ही शोर सुनाई देने लगे।

आखिर जीवन कौन है जिसे इतना बड़ा खतरा समझ लिया गया है कि हिन्दू, मुस्लिम और ईसाई धर्म-रक्षकों ने एक साथ तलवारें खींच लीं? जीवन को आग के हवाले करने के लिए तीनों ही धर्मों के ध्वजवाहक एकताबद्ध हो गये। कई स्थानों पर पेट्रोल बम फेंककर और तोड़-फोड़ करके इस मुद्दे पर विरोध प्रदर्शन किया गया।

दरअसल जीवन केरल सरकार द्वारा सातवीं कक्षा की सामाजिक विज्ञान की नई किताब के पाठ में एक पात्र है। इस पाठ का शीर्षक है ‘नो रिलिजन फोर जीवन’, यानि ‘जीवन के लिए कोई धर्म नहीं’! पाठ कुछ इस प्रकार है।

जीवन के माता-पिता जीवन के दाखिले के लिए स्कूल जाते हैं तथा हेडमास्टर साहब के सामने पड़ी कुर्सी पर बैठ जाते हैं। हेडमास्टर फार्म भरना शुरू करते हैं।

“आपके बेटे का नाम क्या है?”

“जीवन।”

“अच्छा नाम है। पिता का नाम?”

“अनवर रशीद।”

“माता का नाम?”

“लक्ष्मी देवी।”

हेडमास्टर एक नजर माता-पिता पर डालते हैं और पूछते हैं

“बच्चे का धर्म क्या है?”

“कुछ लिखने की जरूरत नहीं है।”

“कोई धर्म न लिखें।”

“जाति?”

“इसकी भी कोई आवश्यकता नहीं है।”

हेडमास्टर आगे को झुकते हैं और गम्भीरतापूर्वक पूछते हैं

“जब यह लड़का बड़ा होगा और इसे धर्म की आवश्यकता होगी तब?”

“उस स्थिति में वह अपनी पसन्द का धर्म अपना सकता है।”

अरे! यह भी कोई पाठ हुआ भला! हम तो ऐसा पाठ पहली

बार देख रहे हैं। और इस पाठ का शीर्षक तो और भी अजीब है ‘जीवन के लिए कोई धर्म नहीं’। यह भी कोई बात हुई भला? इससे तो लोगों के मन में न जाने कैसे-कैसे विचार पनपने लगेंगे। कोई यह भी सोच सकता है कि जीवन के लिए धर्म (मजहब या रिलिजन) कितना जरूरी है। धर्म या धार्मिक कर्मकांड के बिना क्या जीवन का गुजारा हो पायेगा? जीवन के लिए धर्म ज्यादा जरूरी है या रोटी कपड़ा और मकान? और सबसे असुविधाजनक सवाल तो यह कि जीवन के लिए कौन-सा धर्म अपनाना सही होगा?

धर्मभीरु लोगों के बीच से यह आवाज उठने लगी कि ‘जीवन के लिए कोई धर्म नहीं’ पाठ अनर्थकारी है क्योंकि यह लोगों को धर्म के पवित्र रास्ते से विमुख कर सकता है। यह उन्हें रोटी, कपड़ा, मकान, पानी, शिक्षा, रोजगार, स्वास्थ्य जैसी सांसारिक चीजों में उलझा सकता है। फिर धर्म-रक्षा के लिए आपस में उन्हें कैसे लड़ाया जा सकेगा? लोग कहने लगे कि इस पाठ में बुराई ही बुराई है। दो धर्मों के अनुयायियों के बीच शादी का जिक्क तो सरासर गलत है, अधर्म को बढ़ावा देना है। ऐसे इन्सान को न तो नरक में जगह मिलेगी और न ही दोजख में। क्या कहा, अकबर ने भी ऐसी शादी की थी? मगर वे तो बादशाह थे। बड़े आदमी अपनी जरूरतों और अपनी खुशी के लिए कुछ भी कर सकते हैं, और ईमान और मजहब का झंडा उठाये रह सकते हैं। आज भी ऐसे बड़े लोग हैं। मगर आम आदमी को इसकी इजाजत कहाँ तक मुनासिब है और एक मुस्लिम लड़का हिन्दू लड़की से शादी कर ले, इसे हिन्दू धर्म-रक्षक भला कैसे सहन कर सकते हैं?

इस पाठ में सबसे खतरनाक यह है कि जीवन का कोई धर्म नहीं होगा, उसकी कोई जाति नहीं होगी। यह कैसी बेदुंगी बात है? यदि ऐसा होने लगे तो कयामत हो जायेगी। फिर तो लोगों में ऐसे समाज का सपना पनपने लगेगा जिसमें जाति के आधार पर कोई ऊँच-नीच, छोटा-बड़ा नहीं रहेगा। फिर तो बिना जाति, धर्म का खयाल किये कोई किसी से भी शादी कर लेगा। यह पुराना गड़ा मुर्दा पता नहीं क्यों उखाड़ दिया गया। जाति प्रथा के खात्मे का सवाल तो आज बड़े-बड़े बुद्धिजीवी, धर्मोपदेशक, सामाजिक-कार्यकर्ता, राजनेता, यहाँ तक कि दलितों के रहनुमाओं और मसीहाओं तक के एजेन्डे में नहीं है। अगर ऐसा होता तो

क्या वे अपने कार्यकर्ताओं की इतनी बड़ी फौज को भविष्य के सुन्दर सपने को साकार करने के लिए इतिहास, वैज्ञानिक चेतना और तर्कशीलता से ओत-प्रोत नहीं कर देते? क्या वे अपने कार्यकर्ताओं की इतनी बड़ी फौज को जाति मिटाओ अभियान में नहीं उतार देते। अब तो वे भी सोशल इन्जीनियरिंग के जरिये दलित-सवर्ण दलित-जाट, दलित-गुर्जर, दलित-मुसलमान, दलित-पिछड़ा और ऐसी ही गोटियाँ बिठाकर एक ओर जातिवादी समाज को तथा दूसरी ओर अपने-अपने हाथों को मजबूत करने में लगे हैं। जाति तोड़ने के बजाय समाज को तोड़ रहे हैं।

जीवन का कोई धर्म नहीं होना और ऊपर से यह कहना कि वयस्क होने पर वह अपनी मर्जी का धर्म चुन सकता है, यह भी कोई बात हुई। यहाँ तो बच्चे को जन्म से ही घुट्टी के साथ जाति-धर्म के संस्कार पिलाओ तब भी बहक जाते हैं। जीवन के माँ-बाप को ही देख लो। जाति, धर्म का कोई लिहाज ही नहीं। तब क्या धर्मनिरपेक्षता की खतरनाक बीमारी पूरे समाज को घेर नहीं लेगी? हो सकता है कि बड़ा होकर जीवन कोई धर्म ही न चुने। हो सकता है कि तर्कों की कसौटी पर धर्मों की परख करने लगे। विवेकशील व्यक्ति हमारे ही धर्म को चुनेगा, इतना भरोसा शायद आज किसी भी धर्म के झंडाबरदार में नहीं रहा। अगर अपने धर्म की श्रेष्ठता पर उन्हें अटूट विश्वास होता तो वे इन्मीनान से कहते कि कोई बात नहीं, जीवन भले ही आज हमारा धर्म न अपनाये, समझदार होकर तो वह हमारे ही धर्म की शरण में आयेगा। 'मुक्त प्रतियोगिता' के इस दौर में वे धर्मों के बीच खुली प्रतिस्पर्धा की वकालत करते, विवेक के बजाय आपसी शक्ति प्रदर्शन का सहारा नहीं लेते।

केरल सरकार के पाठ्यक्रम में और भी बहुत कुछ है जो अभिजात वर्ग के लिए पचा पाना आसान नहीं। मसलन समकालीन नायक, घटनाएँ, इतिहास और राजनीति, जमींदारों और खेत मजदूरों की स्थिति, सवर्ण और दलित के बारे में, बढ़ती महँगाई, जमीन का मालिकाना, खाद्य सुरक्षा, किसान आन्दोलन, साक्षरता, भूमि सुधार विधेयक 1957, दलितों के साथ छुआछूत और शिक्षा से उन्हें वंचित रखना तथा दलितों के लिए वेश-भूषा पर प्रतिबन्ध लगाना और दूसरे कई तरह के जातीय उत्पीड़न।

इस पाठ्यक्रम में यह भी बताया गया है कि अंग्रेज किस तरह व्यापार के लिए यहाँ आये और फिर पूरे देश को गुलाम बना लिया। इसमें छात्र आन्दोलनों, स्वतन्त्रता आन्दोलन की क्रान्तिकारी घटनाओं, अन्धविश्वास, सम्पत्ति का चन्द हाथों में सिमटते जाना, एक ही धर्म के अनुयाइयों के बीच शोषण के सम्बन्ध इत्यादि को भी स्थान दिया गया है।

लोगों का मानना है कि छात्रों को ये ऊटपटांग बातें बताने की भला क्या जरूरत है। नयी पीढ़ी को सहनशील, अनुशासित

और सेवक बनाये रखने के लिए तो इस तरह की चेतना से उन्हें दूर ही रखना उचित है। नौजवान अगर किसान आन्दोलनों का इतिहास पढ़ेंगे तो उसकी सफलता-असफलता से सबक लेंगे। वे एकजुट होना सीख जायेंगे और जनता के हक में आये दिन गोलबन्द होकर विरोध करने लगेंगे। कभी कॉलेजों की फीस घटाने या मुफ्त शिक्षा की बात करेंगे, कभी अनाज सस्ता करने या मुफ्त इलाज की माँग करेंगे। फिर तो सरकार के लिए सुकून से शासन करना ही मुश्किल हो जायेगा। अगर महिलाओं, दलितों को उनके पिछड़ेपन का एहसास कराकर उन्हें बराबरी के सपने दिखा दिये जायें तो क्या वे देश-समाज में बराबरी और भागीदारी की माँग नहीं करने लगेंगे? मजदूर कहेंगे कि अगर सभी चीजों का निर्माण हमने किया है तो उसके उपभोग में हमें भी बराबर का भागीदार बनाओ। अगर ऐसा हो गया तो गजब नहीं हो जायेगा? अगर महँगाई कम करके जनता को फायदा पहुँचाया जाये तो उस मुनाफे की सीढ़ी पर चढ़कर देश के सबसे ऊँचे पायदानों पर चमकने वाले सरमायादारों का क्या होगा? सामाजिक उत्पादन और सम्पदा में सबको हक मिलेगा तो फिर भाग्य-फल, पूर्व जन्म के संस्कार और 'सन्तोषम् परम् सुखम्' के उपदेश का क्या होगा?

वैसे भी पाठ्यक्रम का उद्देश्य भला छात्रों की सामाजिक-राजनीतिक चेतना विकसित करना होता है? अंग्रेजों ने जो तरीका अपनाया था उसमें ही भला क्या बुराई थी? आज तक वही तो चला आ रहा है? क्या अनर्थ हो गया? आम भारतीय लोगों के लिए बड़े लोगों की सेवा में लगने भर की शिक्षा काफी नहीं क्या? राज-काज चलाने के लिए नेता और अफसर तो हैं ही, उनके सलाहकार और बुद्धिजीवी भी हैं। आम जनता की सन्तानों में राजनीति का रोग लग गया तो समझो इस देश में शासन करना दूभर हो जायेगा, अराजकता फैल जायेगी। इसलिए जीवन को शिक्षा से, पाठ्यक्रम से निकाल बाहर करवाना जरूरी हो गया। सभी धर्मों के लोग सड़क पर आ गये। पता नहीं जीवन का क्या हुआ, लेकिन निश्चय ही यह पाठ इस समाज व्यवस्था को चलाने वालों और इसमें मौज-मजे से जिन्दगी गुजारने वाले अभिजात वर्गों के माफिक नहीं बैठता।

हमें क्या पढ़ाया जायेगा। यह हमारे शासक ही तय करेंगे। हमेशा से यही होता आ रहा है। शिक्षा को पट्टी पर लाना है तो पहले समाज व्यवस्था को पट्टी पर लाना होगा। जितनी भलमनसाहत से पाठ्यक्रम तैयार करनेवालों ने इसे पढ़ाने का फैसला किया, उन्हें शायद भ्रम रहा हो कि यथास्थिति के पोषकों का स्वार्थ इस पाठ से नहीं टकरायेगा। वरना वे घोड़े के आगे गाड़ी जोतने का फैसला नहीं करते।

□

महमूद दरवेश फिलिस्तीनी प्रतिरोध के गायक का निधन

□ दिगम्बर

“जब मेरे शब्द गेहूँ थे
मैं धरती था।
जब मेरे शब्द क्रोध थे
मैं तूफान था।
जब मेरे शब्द पत्थर थे
मैं नदी था।
जब मेरे शब्द शहद में बदल गये
मक्खियों ने मेरे होंठ ढँक लिये।

फिलिस्तीनी कविता के प्रतिनिधि कवि महमूद दरवेश का 9 अगस्त को दिल के ऑपरेशन के बाद देहान्त हो गया। वे 67 वर्ष के थे।

महमूद दरवेश ने फिलिस्तीनी जनता के निर्वासन, विस्थापन, राष्ट्रीय मुक्ति की आकांक्षा तथा इजरायली आधिपत्य और दमन-उत्पीड़न के खिलाफ उनके प्रतिरोध संघर्ष को कविताओं में व्यक्त किया। उनका अचानक चले जाना फिलिस्तीनी और अरब जनता के लिए ही नहीं, बल्कि दुनियाभर की मुक्तिकामी जनता के लिए एक गम्भीर क्षति है।

महमूद दरवेश का पहला काव्य-संग्रह “बिना पंखों वाली चिड़िया” 1960 में अरबी भाषा में प्रकाशित हुआ। दूसरा संग्रह “जैतून की पत्तियाँ” आने के बाद उनकी ख्याति पूरी दुनिया में फैल गयी। उनकी मशहूर कविता “परिचय पत्र” इसी संग्रह में शामिल थी, जिसमें दरवेश ने एक अरब द्वारा इजरायली आक्रान्ताओं को पहचान संख्या बताने और अपने वतन की धरती पर वापस लौटने के संकल्प को चुनौती भरे लहजे में पेश किया है। इस कविता में फिलिस्तीनी लोगों के वेतन होने की पीड़ा और आक्रोश का बयान है जिन्हें अपनी ही धरती पर इजरायली अधिकारियों के सामने अपनी पहचान संख्या बतानी पड़ती है।

बीस से अधिक कविता संग्रह और आठ गद्य-कृतियों के रचनाकार दरवेश का अन्तिम कविता संग्रह “तितलियों की निशानी” इसी वर्ष प्रकाशित हुआ। 100 से अधिक भाषाओं में उनकी रचनाओं के अनुवाद हुए हैं। उनकी पत्नी राना कब्बानी ने उनकी ढेर सारी कविताओं को अंग्रेजी में अनुवाद करके उन्हें दुनिया के साहित्य प्रेमियों तक पहुँचाया। हिन्दी में दरवेश की बहुत कम रचनाएँ ही उपलब्ध हैं। इस दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति के कारण हिन्दी के पाठक प्रतिरोध कविता के इस अनमोल खजाने से काफी हद तक वंचित हैं।

फिलिस्तीनी संगीतकारो ने उनकी “रीटा”, “गैलिली की चिड़िया” और “मैं अपनी माँ की रोटी के लिए तरसता हूँ” जैसी कई कविताओं को लयबद्ध किया जो अरब जनता के बीच दो पीढ़ियों से राष्ट्रगान की तरह लोकप्रिय हैं।

महमूद दरवेश का जन्म 1942 में हायफा के निकट एक फिलिस्तीनी गाँव अल बिरवा में हुआ था। 1948 के मध्यपूर्व युद्ध में, जिसके बाद फिलिस्तीनी धरती पर साम्राज्यवादी षड्यन्त्रों के द्वारा इजरायल की स्थापना हुई, इस गाँव पर भीषण बमबारी की गयी। युद्ध की विभीषिका

ने उनके पूरे परिवार को अपना घर-बार और देश छोड़कर लेबनान में शरणार्थी बनने को मजबूर किया। वहाँ से लौटे तो उनके गाँव का कहीं नामो-निशान नहीं था। वापसी के बाद उनके परिवार को गैलिली में बसना पड़ा। इस तरह 6 साल की उम्र में ही महमूद दरवेश ने आक्रमण, तबाही, निर्वासन और शरणार्थी जीवन की कठिनाइयों का प्रत्यक्ष अनुभव किया। इन त्रासद घटनाओं का मार्मिक चित्रण उनकी कविताओं में हुआ है।

हाई-स्कूल पास करने के बाद 1961 में वे इजरायल की कम्युनिस्ट पार्टी में शामिल हुए और उसके मुखपत्र अल-इत्तहाद के सम्पादक बने। उसी समय से उनकी रचनाएँ विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होने लगी थीं। इस दौरान उन्होंने प्रगतिशील इजरायली कवियों की रचनाओं तथा पाब्लो नेरूदा और फेडरिको गार्सिया लोर्का की हिब्रू में अनुदित कविताओं का अध्ययन किया।

1970 में वे इजरायल छोड़कर पढ़ाई करने सोवियत संघ गये और वहीं से उन्होंने मिन्न और लेबनान की यात्रा की। 1973 में लेबनान में ही वे फिलिस्तीनी मुक्ति संगठन से जुड़े और कई बार जेल गये।

फिलिस्तीनी राष्ट्र की अन्तश्चेतना के निर्माण में दरवेश ने ऐतिहासिक भूमिका का निर्वाह किया। कविताओं में ही नहीं, बल्कि महत्वपूर्ण राजनीतिक दस्तावेजों की तैयारी में भी उन्होंने अनोखी प्रतिभा का परिचय दिया। यासिर अराफात ने 1974 में संयुक्त राष्ट्र संघ के सम्मेलन में जो मशहूर भाषण दिया था उसे महमूद दरवेश ने ही तैयार किया था जिसमें उन्होंने कहा था “आज मैं अपने साथ एक जैतून की टहनी और एक मुक्ति संग्रामी की बन्दूक लिए यहाँ आया हूँ। मेरे हाथ से इस जैतून की टहनी को गिरने न दें।”

1988 में फिलिस्तीनी आजादी का घोषणापत्र भी दरवेश ने दो अन्य फिलिस्तीनी विद्वानों एडवर्ड सईद और इलियास खोरी के साथ मिलकर लिखा था। यासिर अराफात ने फिलिस्तीनी जनता की ओर से अपनी आजादी की घोषणा करते हुए उसे दुनिया के सामने प्रस्तुत किया था।

1993 में जब यासिर अराफात ने ओस्तो में इजरायल के साथ अन्तरिम शान्ति समझौते पर दस्तखत किया तो उसके विरोध में दरवेश ने फिलिस्तीनी मुक्ति संगठन से इस्तीफा दे दिया।

दरवेश एक प्रतिबद्ध वामपन्थी और प्रबल राष्ट्रवादी थे। फिलिस्तीनी नेताओं और बुद्धिजीवियों को वे हमेशा सही राह पर चलने और समझौतापरस्ती से बचने की सलाह और चेतावनी देते रहे। अपने अन्तिम दिनों में वे फिलिस्तीनी मुक्ति संघर्ष के भटकाव, गुटों के बीच लड़ाई और नेतृत्व के समझौतावादी रवैये से काफी आहत थे। फिलिस्तीनी गुटों हमास और फतह के बीच चल रहे खूनी संघर्ष की भर्त्सना करते हुए अपनी एक कविता में दरवेश ने इसे “सड़कों पर आत्महत्या का एक सार्वजनिक प्रयास” कहा था।

26 वर्षों के निर्वासन के बाद 1996 में वे वेस्ट बैंक के रामल्ला शहर में अपनी माँ से मिलने गये और उनके साथ ही रहने लगे। माँ के प्रति उनका गहरा जुड़ाव और उनसे बिछड़ने का दर्द उनकी कविताओं में बार-बार आता है। “माँ के लिए” कविता में निर्वासन की यही पीड़ा मुखरित हुई है

“शिकंजे में जकड़ा है मेरा हृदय
जल रहा हूँ मैं
सुलग रहा हूँ वियोग की आग में
और धीरे-धीरे
बढ़ रहा हूँ तेरी तरफ
तेरे दुलार भरे हाथों की ओर...
... किसी अबोध बच्चे की तरह
अबोध मेरा हृदय
जल रहा है निर्वासन की आग में
आह दर्द! कितना दर्द है वहाँ
ओ माँ! क्या करूँ मैं

अचानक डूबते दिल के ऊपर
फड़फड़ाने लगा एक सफ़ेद पंख
आशीर्वाद माँ का।”

निर्वासन और प्रतिरोध संघर्ष के कठिन डगर पर माँ की दुआएँ और वापसी का स्वप्न हमेशा मुक्ति योद्धाओं को उम्मीद और साहस देते हैं

“हवा चाकू की तरह
चीर रहा है मेरा दिल

माँ यदि तेरी दुआएँ
न होतीं मेरे साथ
मेरी सूनी आँखों में होता अँधेरा
और उन अँधेरी रातों में
मुरझा जाती मेरी आत्मा...

... मैं भी रहना चाहता हूँ
अपनी आशाओं के घोंसले में
अपनी चिड़िया और चूजों के साथ
जीना चाहता हूँ मैं
उड़ान भरना चाहता हूँ आसमान में
और लौटना चाहता हूँ आखिरकार
वापिस अपने घोंसले में।”

माँ की ममता का उदात्त और मार्मिक चित्र दरवेश की कविताओं में भरा पड़ा है। एक कविता में इजरायली बमबारी से शहीद हुए अपने बेटे को दफनाते हुए एक माँ कहती है

“एक औरत ने बादल से कहा:
अपनी बाँहों में भर लो मेरे लाडले को
उसके लहू से सराबोर हैं मेरे लिबास
अगर बारिश नहीं बन सकते मेरे प्यारे
तो दरख्त बन जा नमी से भरपूर, पत्थर बन जा
और मेरे प्यारे, अगर नहीं बन सकते पत्थर

परिचय पत्र

लिखो मैं एक अरब हूँ
कार्ड नम्बर पचास हजार
आठ बच्चों का बाप हूँ
नीवाँ अगली गर्मियों में आएगा
क्या तुम नाराज हो?
लिखो एक अरब हूँ मैं
पत्थर तोड़ता हूँ
अपने साथी मजदूरों के साथ

हाँ मैं तोड़ता हूँ पत्थर
अपने बच्चों को देने के लिए
एक टुकड़ा रोटी
और एक किताब

अपने आठ बच्चों के लिए
मैं तुमसे भीख नहीं माँगता
धिधियाता-रिरियाता नहीं तुम्हारे सामने
तुम नाराज हो क्या?

लिखो अरब हूँ मैं एक
उपाधि रहित एक नाम
इस उन्मत्त विश्व में अटल हूँ

मेरी जड़ें गहरी हैं
युगों के पार
समय के पार तक
मैं धरती का पुत्र हूँ
विनीत किसानों में से एक
सरकंडे और मिट्टी के बने
झोपड़े में रहता हूँ
बाल-काले हैं
आँखें-भूरी
मेरी अरबी पगड़ी
जिसमें हाथ डाल कर खुजलाता हूँ
पसन्द करता हूँ
सिर पर लगाना चुल्लू भर तेल

इन सब बातों के ऊपर
मेहरबानी करके यह भी लिखो
मैं किसी से नफरत नहीं करता
लूटता नहीं किसी को
लेकिन जब भूखा होता हूँ मैं
चबाना चाहता हूँ अपने लुटेरों को
सावधान
सावधान मेरी भूख से
सावधान
मेरे क्रोध से सावधान।

तो चाँद बन जा
 प्रियतम के सपने में चाँद
 यही कहा था एक औरत ने अपने बेटे से
 जब उसे दफनाया जा रहा था।”

इजरायली क्रूरता और दमन-उत्पीड़न के खिलाफ फिलिस्तीनी जनता के आक्रोश और संघर्ष चेतना को दरवेश ने सरल, बेबाक और दिलकश अन्दाज में प्रस्तुत किया है

“उन्होंने उसके मुँह पर जंजीरें कस दीं
 मौत की चढ़ान से बाँध दिया उसे
 और कहा तुम हत्यारे हो

उन्होंने उससे भोजन, कपड़े और झंडे छीन लिए
 फेंक दिया उसे मृत्यु कक्ष में
 और कहा चोर हो तुम

हर जगह से भगाया उसे
 प्यारी छोटी बिटिया को छीन लिया
 और कहा शरणार्थी हो तुम, शरणार्थी
 अपनी जलती आँखों
 और रक्तम हाथों को बताओ
 रात जाएगी

कोई कैद कोई जंजीर नहीं रहेगी
 नीरो मर गया था, रोम नहीं
 वह लड़ा था अपनी आँखों से
 एक सूखी गेहूँ की बाली के बीज
 भर देंगे खेतों को
 करोड़ों हरी बालियों से।”

सैकड़ों वर्षों तक ब्रह्म, यूनानी, रोमन, ऑटोमन, तुर्की और ब्रिटिश प्रभुत्व व प्रभाव में होने के बावजूद फिलिस्तीन की अपनी अलग पहचान कायम रही। फिलिस्तीनी राष्ट्र संकीर्ण और दकियानूस कभी नहीं रहा। इजरायली आधिपत्य से क्षत-विक्षत इस आहत-अपमानित राष्ट्र को प्रतिक्रिया स्वरूप अरब राष्ट्रवाद की सीमाओं में बाँधने की पूरी गुंजाइश थी। ऐसी हर कोशिश का दरवेश ने पुरजोर विरोध किया और उसकी व्यापक उन्मुक्त और सर्वग्राही पहचान कायम रखने में जी-जान से लगे रहे।

अपनी महाकाव्यात्मक रचना “मूलनिवासियों का बयान” में दरवेश ने अमरीका के मूलनिवासियों (रेड इंडियन) के कल्लेआम और उनकी धरती पर उपनिवेशवादियों की बर्बरता को फिलिस्तीनी जनता की वर्तमान पीड़ा से जोड़ दिया

“हवाएँ हमारी शुरुआत और अन्त के गीत गाएँगी
 भले ही लहू-लुहान है हमारा वर्तमान
 दफन है हमारे दिन
 वीरगाथाओं की राख में...
 ... फिरंगी के तौर-तरीके अजीबोगरीब हैं!
 शिकार करता है वह हमारे बच्चों का
 और तितलियों का भी।
 हमारे इस गुलशन से तुम्हारा क्या इकरार है फिरंगी?
 क्या पीतल पर फूलों की हमारी नक्काशी

से अधिक खूबसूरत?
 जैसी तुम्हारी मर्जी लेकिन तुम्हें मालूम तो है
 कोई हिरण उस घास की ओर नहीं जाएगी
 जो दागदार हो हमारे लहू से।”

इसी कविता में फिलिस्तीनी जनता की वर्तमान आकाँक्षा अमरीकी मूल निवासियों के बयान में प्रतिध्वनित हुई है

तुम्हें रात से जो कुछ चाहिए ले लो
 मगर सितारों की एक जोड़ी छोड़ दो हमारे लिए
 हमारे स्वर्गीय मृतकों के लिए
 तुम्हें समुद्र से जो कुछ चाहिए ले लो
 मगर मछली पकड़ने के लिए चन्द लहरें छोड़ दो हमारे लिए
 धरती का सारा सोना और सूरज ले लो
 लेकिन हमारे नाम की धरती छोड़ दो हमारे लिए
 और वापस चले जाओ फिरंगी
 एक बार फिर भारत की खोज अपनी यात्रा पर।

फिलिस्तीनी जिन्दगी की सच्चाइयों को अभिव्यंजित करने के लिए दरवेश ने महाकाव्यात्मक मिथकों और पारम्परिक रूपकों के साथ-साथ अपने ताजा अरबी मुहावरों का अद्भुत प्रयोग किया। यही कारण है कि उनकी ढेर सारी रचनाएँ फिलिस्तीनी जनता की जुबान पर होती हैं।

“मैं याद करता हूँ।
 गोमेद पत्थर से जड़ी दीवारों को
 चिड़ियों को याद करता हूँ मैं
 बादाम और अंजीर के पेड़ों को
 उनकी पत्तियों की शिराओं को
 याद करता हूँ।
 आहिस्ता-आहिस्ता तोड़ता हूँ एक टहनी
 अपनी छाती के अंजीर वृक्ष की
 उसे पत्थर की तरह फेंकता हूँ मैं
 विजेताओं के टैंक को ध्वस्त करने के लिए।”

दरवेश की कविताएँ केवल फिलिस्तीनी और अरब जनता के बीच ही नहीं, बल्कि जिन-जिन भाषाओं के पाठकों तक पहुँचीं, न्याय, समानता और प्रगति की चाहत रखने वालों ने उन्हें खूब सराहा। यहाँ तक कि इजरायल में भी उनकी लोकप्रियता कम नहीं थी।

कुछ वर्ष पहले इजरायली शिक्षामन्त्री योसी सारिद ने महमूद दरवेश की कविताओं को इजरायली पाठ्यक्रम में शामिल करने का सुझाव दिया था। लेकिन वहाँ की प्रतिक्रियावादी ताकतों के विरोध के कारण ऐसा नहीं हो पाया। वर्तमान शिक्षामन्त्री गुश शालोम ने अपने शोक-सन्देश में कहा कि “सच तो यह है कि इजरायली सरकार दशकों तक देशनिकाला देकर इस महान रचनाशील प्रतिभा को अपने देश का निवासी होने की भावना प्रदान करने में असमर्थ रही। क्या हमारे लिए यह बदनामी का तमगा नहीं है?”

महमूद दरवेश फिलिस्तीनी नेतृत्व के नैतिक दिशासूचक थे। आज फिलिस्तीनी मुक्ति संघर्ष का कारवाँ एक मुश्किल दौर, एक कठिन रास्ते से गुजर रहा है। ऐसे में उनका अचानक चले जाना मुक्तिकामी विश्व जनगण और खासकर फिलिस्तीनी जनता के लिए एक बड़ा हादसा है। □

जनता का साहित्य किसे कहते हैं?

□ गजानन माधव मुक्तिबोध

जिन्दगी के दौरान जो तजुर्बे हासिल होते हैं, उनसे नसीहतें लेने का सबक तो हमारे यहाँ सैकड़ों बार पढ़ाया गया है। होशियार और बेवकूफ में फर्क बताते हुए एक बहुत बड़े विचारक ने यह कहा, “गलतियाँ सब करते हैं, लेकिन होशियार वह है जो कम-से-कम गलतियाँ करे और गलती कहीं हुई यह जान ले और यह सावधानी बरते कि कहीं वैसी गलती तो फिर नहीं हो रही है।” जो आदमी अपनी गलतियों से पक्षपात करता है उसका दिमाग साफ नहीं रह सकता।

गलतियों के पीछे एक मनोविज्ञान होता है। या, यूँ कहिए कि गलतियों का स्वयं एक अपना मनोविज्ञान है। तजुर्बे से नसीहतें लेते वक्त, अपने गलतियों वाले मनोविज्ञान के कुहरे को भेदना पड़ता है। जो जितना भेदेगा, उतना पाएगा। लेकिन पाने की यह जो प्रक्रिया है वह हमें कुछ सिद्धान्तों के किनारे तक ले जाती है, कुछ सामान्यीकरणों को जन्म देती है। यानी, तजुर्बे की कोख से सिद्धान्तों का जन्म होता है।

मैं अपने तजुर्बे से कौन-सा निष्कर्ष निकालूँ, यह एक सवाल है, और तजुर्बा यह है।

एक उत्साही सज्जन को जब मैंने यह कहा कि फलों पार्टी छुईखदान गोलीकांड पर इतनी देर से क्यों वक्तव्य निकाल रही है, तो उसका जवाब देते हुए उन्होंने यह कहा कि वक्तव्य मैंने लिखा (वे उस पार्टी के हैं), और पार्टी उसे पास करने जा रही है। आपका भी यह काम था कि आप उस वक्तव्य को जल्दी-से-जल्दी लिखते और पास करवा लेते।

मैंने इसका जवाब यह दिया कि वह मेरा काम नहीं है। मेरे काम में हिस्सा बँटाने के लिए क्या वे लोग आते हैं? (‘मेरे काम’ से मेरा मतलब ‘साहित्यिक कार्य’ से था।) उन्होंने उसका जवाब यह कहकर दिया कि यह आपका व्यक्तिगत कार्य है और वह सामूहिक।

इसका यह मतलब हुआ कि साहित्य एक व्यक्तिगत

कार्य है, और राजनीति सामूहिक कार्य, और सामूहिक कार्य में व्यक्तिगत स्वार्थ की कोई महत्ता नहीं।

लेकिन क्या यह सच है? क्या कविकर्म मात्र व्यक्तिगत है? क्या साहित्य कार्य की मूल प्रेरणा और क्षेत्र शुद्ध व्यक्तिगत है?

मजेदार बात यह है कि साहित्य को मात्र व्यक्तिगत कार्य कहकर, व्यक्तिगत उत्तरदायित्व कहकर, अपने हाथ झाड़-पोंछकर साफ करनेवाले ठीक वे ही लोग हैं, जो ‘जनता के लिए साहित्य’ का नारा बुलन्द करते हैं, गोया उन्हें यह मालूम नहीं कि जिन शब्दों को वे बार-बार दुहरा रहे हैं, उनका मतलब क्या है।

यह छोटी-सी बात हमारे हिन्दुस्तान के पिछड़ेपन को ही सूचित करती है। स्वतन्त्र होने पर भी हमारा देश आर्थिक दृष्टि से अभी गुलाम है। औपनिवेशिक देश के बुद्धिजीवी निश्चय ही उतने ही पिछड़े हुए हैं जितना कि उनका अर्थतन्त्र।

यूरोप में एक-एक विचार की प्रस्थापना के लिए बड़ी-बड़ी कुरबानियाँ देनी पड़ी हैं। लेकिन हिन्दुस्तान को पका-पकाया मिल रहा है। लेकिन, चूँकि उसके पीछे स्वतः उद्योग नहीं है, इसलिए बहुत से विचार हजम नहीं हो पाते। शरीर में उनका खून नहीं बन पाता। आँखों में उनकी लौ नहीं जल पाती। मस्तिष्क में उनका प्रकाश नहीं फैल पाता। इसीलिए विचारों में बचकानापन रहता है, और कार्य विचारों का अनुसरण नहीं कर पाते। यह बात हिन्दुस्तान के औपनिवेशिक रूप पर ही हमारी दृष्टि ले जाती है।

हम अपने मूल प्रश्न पर आएँ। क्या साहित्य कार्य मात्र व्यक्तिगत कार्य है, मात्र व्यक्तिगत उत्तरदायित्व है?

इसका जवाब यों है

1. साहित्य का सम्बन्ध आपकी संस्थिति से है, आपकी भूख प्यास से है मानसिक और सामाजिक। अतएव किसी प्रकार का भी आदर्शात्मक साहित्य जनता से असम्बद्ध नहीं।
2. ‘जनता का साहित्य’ का अर्थ जनता को तुरन्त ही

समझ में आनेवाले साहित्य से हरगिज नहीं। अगर ऐसा होता तो किस्सा तोता-मैना और नौटंकी ही साहित्य के प्रधान रूप होते। साहित्य के अन्दर सांस्कृतिक भाव होते हैं। सांस्कृतिक भावों को ग्रहण करने के लिए बुलन्दी, बारीकी और खूबसूरती को पहचानने के लिए, उस असलियत को पाने के लिए जिसका नक्शा साहित्य में रहना है, सुनने या पढ़नेवाले की कुछ स्थिति अपेक्षित होती है। वह स्थिति है उसकी शिक्षा, उसके मन का सांस्कृतिक परिष्कार। साहित्य का उद्देश्य सांस्कृतिक परिष्कार है, मानसिक परिष्कार है। किन्तु यह परिष्कार साहित्य के माध्यम द्वारा तभी सम्भव है जब स्वयं सुननेवाले या पढ़नेवाले की अवस्था शिक्षित [की] हो। यही कारण है कि मार्क्स का *दास कैपिटल*, लेनिन के ग्रन्थ, रोम्यों रोलाँ, तोल्स्तोय और गोर्की के उपन्यास एकदम अशिक्षित और असंस्कृतों के न समझ में आ सकते हैं, न वे उनके पढ़ने के लिए होते ही हैं। 'जनता का साहित्य' का अर्थ 'जनता के लिए साहित्य' से है, और वह जनता ऐसी हो जो शिक्षा और संस्कृति द्वारा कुछ स्टैंडर्ड प्राप्त कर चुकी हो। ध्यान रहे कि राजनीति के मूल ग्रन्थ बहुत बार बुद्धिजीवियों के भी समझ में नहीं आते, जनता का तो कहना ही क्या। लेकिन ये हमारी सांस्कृतिक विरासत हैं। ऐसे राजनीति-ग्रन्थों के मूल भाव हमारी राजनीतिक पार्टियाँ और सामाजिक कार्यकर्ता अपने भाषणों और आसान जबान में लिखी किताबों द्वारा प्रसारित करते रहते हैं। चूँकि ऐसे ग्रन्थ जनता की एकदम समझ में नहीं आते (बहुत बार बुद्धिजीवियों की समझ में भी नहीं आते), इसलिए वे ग्रन्थ जनता के लिए नहीं, यह समझना गलत है। अज्ञान और अशिक्षा से अपने उद्धार के लिए जनता को ऐसे ग्रन्थों की जरूरत है। जो लोग 'जनता का साहित्य' से यह मतलब लेते हैं कि वह साहित्य जनता के तुरन्त समझ में आए, जनता उसका मर्म पा सके यही उसकी पहली कसौटी है। वे लोग यह भूल जाते हैं कि जनता को पहले सुशिक्षित और सुसंस्कृत करना है। वह फिलहाल अन्धकार में है। जनता को अज्ञान से उठाने के लिए हमें पहले उसको शिक्षा देनी होगी। शिक्षित करने के लिए जैसे ग्रन्थों की आवश्यकता होगी, वैसे ग्रन्थ निकाले जाएँगे और निकाले जाने चाहिए। लेकिन इसका मतलब यह नहीं कि उसको प्रारम्भिक शिक्षा देनेवाले ग्रन्थ तो श्रेष्ठ हैं, और सर्वोच्च शिक्षा देनेवाले ग्रन्थ श्रेष्ठ नहीं है। ठीक यही भेद साहित्य में भी है। कुछ साहित्य तो निश्चय ही प्रारम्भिक

शिक्षा के अनुकूल होगा, तो कुछ सर्वोच्च शिक्षा के लिए। प्रारम्भिक श्रेणी के लिए उपयुक्त साहित्य तो साहित्य है, और सर्वोच्च श्रेणी के लिए उपयुक्त साहित्य जनता का साहित्य नहीं है, यह कहना जनता से गद्दारी करना है।

तो फिर 'जनता का साहित्य' का अर्थ क्या है? जनता के साहित्य से अर्थ है ऐसा साहित्य जो जतना के जीवन मूल्यों को, जनता के जीवनादर्शों को, प्रतिष्ठापित करता हो, उसे अपने मुक्तिपथ पर अग्रसर करता हो। इस मुक्तिपथ का अर्थ राजनैतिक मुक्ति से लगाकर अज्ञान से मुक्ति तक है। अतः इसमें प्रत्येक प्रकार का साहित्य सम्मिलित है, बशर्ते कि वह सचमुच उसे मुक्तिपथ पर अग्रसर करे।

जनता के मानसिक परिष्कार, उसके आदर्श मनोरंजन से लगाकर क्रान्ति पथ पर मोड़नेवाला साहित्य, मानवीय भावनाओं का उदात्त वातावरण उपस्थित करनेवाला साहित्य, जनता का जीवन चित्रण करनेवाला साहित्य, मन को मानवीय और जन को जन-जन करनेवाला साहित्य, शोषण और सत्ता के घमंड को चूर करनेवाले स्वातन्त्र्य और मुक्ति के गीतोंवाला साहित्य, प्राकृतिक शोभा और स्नेह के सुकुमार दृश्योंवाला साहित्य सभी प्रकार का साहित्य सम्मिलित है बशर्ते कि वह मन को मानवीय, जन को जन-जन बना सके और जनता को मुक्तिपथ पर अग्रसर कर सके। साहित्य के सम्बन्ध में यही दृष्टिकोण जनता का दृष्टिकोण है। फ्रांस के लुई ऐरेंगॉ ने द्वितीय विश्वयुद्ध में जनता के बीच काम किया, और युद्ध समाप्ति पर रोमैंटिक उपन्यास लिखा। शायद उन्हें जन संघर्ष के दौरान दुश्मनों से लड़ते-लड़ते रोमैंटिक अनुभव भी हुए हों। उन अनुभवों के आधार पर उन्होंने रोमैंटिक उपन्यास लिखे। किन्तु तुरन्त बाद ही वे ऐसे उपन्यास लेकर आए जिसमें, अलावा एक रोमैंटिक धारा के, जनता के संघर्ष का सौन्दर्यात्मक चित्रण था। यही हाल इलिया एहरेनबर्ग आदि का है। उनका उपन्यास *स्टॉर्म* (तूफान इसका हिन्दी में अनुवाद हो चुका है) भी जन संघर्ष के दौरान का चित्रण करता है, जिसमें कई मानवोचित रोमैंटिक घटनाओं और उपकथाओं का सन्निवेश है। उसी तरह सोवियत साहित्य के अन्तर्गत द्वितीय विश्वयुद्ध के विशाल साहित्य चित्रों में मानवोचित सुकुमार रोमैंटिक कथाओं और प्राकृतिक सौन्दर्य दृश्यों का अंकन किया गया है।

जो जाति, जो राष्ट्र जितना ही स्वाधीन है, यानी जहाँ की जनता शोषण और अज्ञान से जितने अंशों तक मुक्ति

प्राप्त कर चुकी होती है, उतने ही अंशों तक वह शक्ति और सौन्दर्य तथा मानवादार्श के समीप पहुँचती हुई होती है। आज की दुनिया में जिस हद तक शोषण बढ़ा हुआ है, जिस हद तक भूख और प्यास बढ़ी हुई है, उसी हद तक मुक्तिसंघर्ष भी बढ़ा हुआ है, और उसी हद तक बुद्धि तथा हृदय की भूख-प्यास भी बढ़ी हुई है।

आज के युग में साहित्य का यह कार्य है कि वह जनता के बुद्धि तथा हृदय की इस भूख-प्यास का चित्रण करे, और उसे मुक्तिपथ पर अग्रसर करने के लिए ऐसी कला का विकास करे जिससे जनता प्रेरणा प्राप्त कर सके और जो स्वयं जनता से प्रेरणा ले सके। अतएव निष्कर्ष यह निकला कि जनता के साहित्य के अन्तर्गत सिर्फ एक ही प्रकार का साहित्य नहीं, सभी प्रकार का साहित्य है। यह बात अलग है कि साहित्य में कभी-कभी जनता के अनुकूल एक विशेष धारा का ही प्रभाव रहे जैसे प्रगतिशील साहित्य में किसान मजदूरों की कविता का।

इस विवेचन के उपरान्त यह स्पष्ट हो जाएगा कि जनता के जीवन मूल्यों और जीवनादर्शों को दृष्टि में रख जो साहित्य निर्माण होता है, वह यद्यपि व्यक्ति-व्यक्ति की लेखनी द्वारा उत्पन्न होता है, किन्तु उसका उत्तरदायित्व मात्र व्यक्तिगत नहीं, सामूहिक उत्तरदायित्व है। जिस प्रकार एक वैज्ञानिक अपनी प्रयोगशाला में अनुसन्धान करता है, और शोध कर चुकने पर एक फार्मूला तैयार करता है, यद्यपि वह साधारण जनता की समझ में न आए, लेकिन वैज्ञानिक यह जानता है कि उस फार्मूले को कार्य में परिणत करने पर नई मशीनें और नए रसायन तैयार होते हैं, जो मनुष्य-मात्र के लिए उपयोगी हैं। तो उसी तरह जनता भी यह जानती है कि वह वैज्ञानिक जनता के लिए ही कार्य कर रहा है। उसी तरह साहित्य भी है। उदाहरणतः, साहित्य शास्त्र का ग्रन्थ साधारण जनता की समझ में भले ही न आए, किन्तु वह लेखकों और आलोचकों के लिए जरूरी है उन लेखकों और आलोचकों के लिए जो जनता के जीवनादर्शों और जीवन मूल्यों को अपने सामने रखते हैं। यह बात ऐसे साहित्य के लिए भी सच है जिनमें मनोभावों के चित्रण में बारीकी से काम लिया गया है, और अत्याधुनिक विचारधाराओं के अद्यतन रूप का अंकन किया गया है।

वास्तविक बात यह है कि शोषण के खिलाफ संघर्ष, तदनन्तर शोषण से छुटकारा, और फिर उसके बाद दैनिक

जीवन के उदर-निर्वाह सम्बन्धी व्यवसाय में कम-से-कम समय खर्च होने की स्थिति, और अपनी मानसिक-सांस्कृतिक उन्नति के लिए समय और विश्राम की सुविधा व्यवस्था की स्थापना जब तक नहीं होती, तब तक शत-प्रतिशत जनता साहित्य और संस्कृति का पूर्ण उपयोग नहीं कर सकती, न उससे अपना पूर्ण रंजन ही कर सकती है।

इस सम्पूर्ण मनुष्य सत्ता का निर्माण करने का एकमात्र मार्ग राजनीति है, जिसका सहायक साहित्य है। तो वह राजनैतिक पार्टी जनता के प्रति अपना कर्तव्य नहीं पूरा करती, जो कि लेखक के साहित्य निर्माण को व्यक्तिगत उत्तरदायित्व कहकर टाल देती है। □

जब किताबों की होली जली

जब सरकार ने आदेश दिया
कि हानिकारक ज्ञान वाली किताबें
जलायी जायेंगी सार्वजनिक रूप से
और हर तरफ हाँका गया बैलों को
खींच लाने को किताबों से लदी गाड़ियाँ
अग्नि कुण्ड तक,
एक निर्वासित लेखक
सर्वोत्तम लेखकों में से एक,
जाँचते हुए जली हुई किताबों की फेहरिस्त
भौचकका रह गया यह जान कर कि
उसमें शामिल नहीं थीं उसकी किताबें
वह दौड़ा अपनी मेज की ओर
आग बबूला क्रोध से,
और लिखा एक पत्र सत्ताधारियों के नाम
जला दो मुझे!
उसने लिखा त्वरित गति से,
जला दो मुझे!
क्या मेरी किताबों ने
हमेशा सच्चाई का इजहार नहीं किया?
और तुम मेरे साथ बर्ताव करते हो
किसी झूठे की तरह!
मैं तुम्हें आदेश देता हूँ
जला दो मुझे!

बर्तोल्त ब्रेख्त

सिंगूर से टाटा का हटना/हटाया जाना

टाटा की नैनो कार फैक्ट्री लगाने के लिए अधिग्रहित जमीन को लेकर पश्चिम बंगाल सरकार और सिंगूर के किसानों के बीच लम्बे समय से चल रहे टकराव और उससे उपजे विवादों का पटाक्षेप हो गया। टाटा ग्रुप ने 3 अक्टूबर को अन्तिम फैसला लिया कि नैनो कार का उत्पादन सिंगूर में नहीं होगा। हालाँकि यह विवाद का विषय है कि टाटा को वहाँ से भगाया गया या वे खुद ही वहाँ से भागे। टाटा ने जाते-जाते अपने इस निर्णय के लिए तृणमूल कांग्रेस की नेता ममता बनर्जी को दोषी ठहराया जबकि मुख्यमन्त्री बुद्धदेव भट्टाचार्य की प्रशंसा की कि उन्होंने हर तरह से उनको सहयोग दिया। टाटा का कहना था कि राज्य सरकार ने फैक्ट्री की सुरक्षा का वचन दिया था लेकिन पुलिस की निगरानी में वहाँ उद्योग चलाना सम्भव नहीं।

एक महीने में कई चक्र वार्ताएँ हुईं, कई फार्मूले पेश किये गये। यह कहा गया कि 1000 एकड़ जमीन में से छः सौ एकड़ जमीन देने के लिए किसान राजी हैं। शेष चार सौ एकड़ विवादास्पद जमीन उन किसानों को वापस कर दी जाय तो अपनी जमीन देने को राजी नहीं हैं। इसके बदले पास ही में पाँच सौ एकड़ दूसरी जमीन है जहाँ पार्ट-पुरजे के सहायक उद्योग लगाये जा सकते हैं। लेकिन टाटा और बंगाल के मुख्यमन्त्री इसे मानने को तैयार नहीं थे।

एक महीने पहले टाटा ग्रुप ने ज्योंही सिंगूर से हटने सम्बन्धी बयान जारी किया, उत्तराखण्ड, महाराष्ट्र, गुजरात, कर्नाटक, आन्ध्रप्रदेश और हिमाचल प्रदेश सहित कई राज्यों की सरकारों ने टाटा को अपने यहाँ नैनो की फैक्ट्री लगाने की ताबड़तोड़ दावत दे डाली। सबसे लुभावना पैकेज आन्ध्र प्रदेश का है जिसमें 1000 एकड़ जमीन मुफ्त, पानी 10 साल तक, बिजली में छूट, 21 साल तक वैट माफ और 300 करोड़ रु. का नकद मुआवजा देने की पेशकश की गयी है। इसी तरह मुफ्त ढाँचागत सुविधाएँ, सस्ती जमीन और टैक्स में हर तरह की छूट जैसी घोषणाओं से टाटा ग्रुप को रिझाने में इन राज्य सरकारों में होड़ लग गयी। दूसरी ओर मीडिया ने किसानों और उनके आन्दोलन का नेतृत्व करने वालों की ऐसी छवि प्रस्तुत की, मानो वे देश के विकास में बाधा हों। पूँजीपतियों ने एक स्वर से इसे औद्योगीकरण के लिए खतरनाक संकेत बताया। अपनी खेती योग्य जमीन देने से इन्कार करके जैसे किसानों ने देशद्रोह किया हो। इस कृषि प्रधान देश में कहीं से एक लफ्ज भी उन किसानों के पख सुनने को नहीं मिला। टाटा की तो सबको चिन्ता थी लेकिन किसी मुख्यमन्त्री ने यह नहीं कहा कि जिन किसानों की जमीन टाटा

की फैक्ट्री के लिए छीनी जा रही है उन्हें हमारे राज्य में भेज दिया जाये, हम उनके लिए मुफ्त जमीन, रहने के लिए मकान और खेती के लिए हर साधन मुहैया करेंगे ताकि वे जम कर खेती करें और जनता का पेट भरें। कोई भी राज्य यदि सीलिंग कानून को थोड़ी सख्ती से लागू कर दे तो उसके लिए यह चुटकी बजाने का काम होगा। लेकिन आज औद्योगीकरण और शहरीकरण के नाम पर किसानों से जमीन छीनने में भी हर राज्य सरकार एक दूसरे को मत दे रही है, कहीं लाठी-गोली के दम पर तो कहीं मोटा मुआवजा देकर। सबका एक ही मन्त्र है गरीबों से छिनकर अमीरों पर लुटा दो और इस बन्दर-बॉट में अपना भी कल्याण कर लो।

मध्य वर्ग के लिए टाटा की लखटकिया नैनो एक सपना है। यह देश की समृद्धि का पैमाना है, उसकी श्रेष्ठता का प्रमाण है। समृद्धि और श्रेष्ठता के इस उन्माद में भला उन किसानों की सुध किसे है जो अपनी जमीन छीने जाने के खिलाफ लड़ते रहे और राज्य का दमन-उत्पीड़न सहते रहे।

इस पूरे मामले में कहीं पर बहस नहीं आई कि देश के लिए कार और अनाज में किसकी जरूरत ज्यादा है? कितने लोगों के लिए कार अनिवार्य है और कितने लोगों के लिए अनाज? देश में कितने लोग कार के लिए तड़प रहे हैं और कितने लोग रोटी के लिए? लेकिन मीडिया की महिमा अपरम्पार है। उसने चुन-चुन कर कार के लिए लालायित लोगों का ही दर्द बखान किया। अनाज के लिए तरसते लोगों को दिखाकर क्या उसकी लोकप्रियता का ग्राफ चढ़ता? मध्य वर्ग ही ग्राहक है, ग्राहक ही भगवान है। कार हो या टीवी चैनल या अखबार, इन सब का उपभोक्ता मध्य वर्ग ही है। वही आदरणीय है, दर्शनीय है। कार बनाने वालों के पक्ष में देश के बड़े-बड़े नेता, सरमायदार, मीडिया और मध्यवर्ग का बहुत बड़ा तबका ताल ठोंकर खड़ा हो गया। लेकिन अनाज उगाने वालों के पक्ष में कितने लोग खड़े हुए? जो खड़े हुए उन्हें घटिया राजनीति से प्रेरित बताया गया। उनकी आवाज नक्कार खाने में तूती की आवाज बन कर रह गयी।

सिंगूर और नन्दीग्राम का संघर्ष पूरे देश में सेज के नाम पर किसानों की जमीन हड़पे जाने के खिलाफ प्रतिरोध का प्रतीक बन गया था। इसने औद्योगीकरण और विस्थापन के सवाल पर एक बहस छेड़ दी थी। यह बहस कुछ दिन चली भी। कुछ इलाकों में सेज के खिलाफ लड़ने वालों के लिए यह प्रतिरोध संघर्ष प्रेरणा-स्रोत भी बना। लेकिन अन्ततः जीत टाटाओं और उनके रहनुमाओं की ही हुई। टाटा के हटने के बाद भी पश्चिम बंगाल

सरकार ने कहा है कि किसानों की अधिग्रहित जमीन वापस करने का तो सवाल ही नहीं है। देश भर में सेज के नाम पर किसानों को उजाड़ना और उन्हें मारना-पीटना अभी जारी है। सच तो यह है कि सिंगूर से टाटा का जाना भी किसानों की जीत से कहीं ज्यादा टाटा और देश भर में उनके मददगार राजनेताओं की जीत मानी जायेगी। जो उनकी अगवानी के लिए पलकें बिछाये इन्तजार कर रहे हैं।

टाटा ने कहा है कि नैनो अपने वायदे के अनुसार बाजार में आयेगी। नयी शर्तों पर किसी नयी जगह से बनकर आयेगी

नैनो। लेकिन सिंगूर के प्रतिरोध से उठे ढेर सारे सवाल आज भी जवाब के इन्तजार में हैं। जनपक्षधर लोगों को इनका हल ढूँढना है।

छपते-छपते टाटा की नैनो कार फैक्ट्री गुजरात में लगेगी। गुजरात सरकार ने 7 अक्टूबर को अहमदाबाद से 25 कि.मी. दूर सनन्द स्थित कृषि विश्वविद्यालय के पशु और कृषि फार्म की 1100 एकड़ जमीन टाटा को बेच दी। इससे पहले भी उत्तराखण्ड सरकार ने पंतनगर कृषि विश्वविद्यालय की कई सौ एकड़ जमीन टाटा को सौंप दी थी। □

इस देश का भगवान ही मालिक है सुप्रीम कोर्ट

सुप्रीम कोर्ट ने अगस्त महीने में कहा कि “भारत जैसे देश को सही रास्ते पर लाने में भगवान भी खुद को असहाय महसूस करेगा।”

यह बात सुप्रीम कोर्ट में सरकारी मकानों का बकाया किराया और उनमें गैर-कानूनी तरीकों से रह रहे नेताओं और सरकारी अधिकारियों के बारे में कही गयी थी। यह केवल दिल्ली का ही हाल नहीं है जहाँ बड़े लोग समय पूरा होने पर भी सरकारी बंगलों से निकलने का नाम नहीं लेते और न ही कोई किराया भरते हैं।

इस तथाकथित लोकतन्त्र में जो जितना ज्यादा कानून तोड़ता है और उससे बचने के लिए चोर दरवाजे निकाल लेता है, वह उतनी ही बड़ी हैसियत वाला माना जाता है। चाहे वह पूंजीपति हो, नेता हो या नौकरशाह।

गैरकानूनी रूप से सरकारी भवनों में रहने वालों से सरकार न तो मकान खाली करवा पाती है और न ही किराया वसूल पाती है। ऐसे लोगों पर किराए के पैंतीस करोड़ रुपये बकाया हैं। अदालत ने पहले इस मामले को सख्ती से लेने और कड़ाई से कानून लागू करने को कहा लेकिन अदालती फटकार खाने के बावजूद सारा सरकारी अमला मिलकर भी 20 लाख रुपये से ज्यादा वसूल नहीं कर पाया।

यही न्यायाधीशों की नाराजगी का कारण था जिस पर न्यायमूर्ति जी.एस. सिंघवी ने कहा कि “भगवान ही इस देश को बचा सकता है।”

इस पर न्यायमूर्ति अग्रवाल ने कहा कि “भगवान भी इस देश की मदद करने में असमर्थ है। भगवान भी मूकदर्शक बने हुए हैं क्योंकि वे अपने को असहाय पाते हैं। हमारे देश का चरित्र खत्म हो चुका है। हम असहाय हैं।”

लेकिन तस्वीर का एक और पहलू सामने आया। दक्षिण कोरिया की पास्को कम्पनी ओड़ीसा के जगतसिंहपुर में 51 हजार करोड़ रुपये की लागत से इस्पात कारखाना लगाना चाहती है। पास्को को अपने प्लांट के लिए चार हजार एकड़ से ज्यादा जमीन

चाहिए। स्थानीय जनता के भारी विरोध के चलते काफी समय से यह मामला अटका हुआ था। अधिग्रहित जमीन के मालिक के वहाँ के आदिवासियों का सवाल यह है कि हमारे घर-बार और रोजी-रोजगार जिस जमीन पर टिके हैं उसे गँवाकर हम जायेंगे कहाँ खायेंगे क्या और जीयेंगे कैसे?

न्यायपालिका ने अपने फैसले में पास्को को 3,566 एकड़ जमीन देने की स्वीकृति दे दी। जाहिर है यह फैसला वहाँ की गरीब जनता के पक्ष में नहीं बल्कि विदेशी कम्पनी पास्को और उसकी हिमायती ओड़ीसा सरकार के पक्ष में है।

राजधानी के सरकारी भवनों के मामले में जो अदालत सरकार को इतना निकम्मा बताती है वही पास्को को जमीन देने के मामले में ओड़ीसा सरकार के दावों को स्वीकार कर लेती है और हजारों लोग रातों-रात अपनी घर-जमीन से उजड़ जाते हैं। दिल्ली में सरकारी मकानों पर नेताओं और अधिकारियों द्वारा कब्जा जमाने और उनका किराया न चुकाने के बारे में अदालत की चिंता जायज है। लेकिन ओड़ीसा के गरीब आदिवासियों-किसानों को बेघर-बार करना कहाँ का न्याय है?

लूट पर आधारित इस व्यवस्था में आम आदमी का जीना मुश्किल है। आज जगतसिंहपुर, कलिंगनगर, रायगढ़, सिंगूर और दिल्ली के आस-पास के किसान अपनी जमीन छिनने के खिलाफ लड़ रहे हैं। विकास और उद्योग लगाने के नाम पर उन्हें उजाड़ा जा रहा है। जब उनकी जीविका का आधार ही नहीं रहेगा तो उनकी अर्थी चाहे नैनो कार में निकालो, चाहे वी.एम.डब्ल्यू. में, क्या फर्क पड़ता है। लोगों को न्याय तो क्या आज जीने के अधिकार से भी वंचित किया जा रहा है।

हम यह रोज-बरोज के संघर्षों में भी देख रहे हैं कि जल, जंगल, जमीन से जुड़े अधिकतर मामलों में सरकार और देशी-विदेशी कम्पनियों जनता के खिलाफ एकजुट हैं और आमतौर पर न्यायालय भी उन्हीं की तरफदारी कर रहे हैं। ऐसे में सचमुच इस देश का भगवान ही मालिक है। □

ग्रेटर नोएडा : क्रुद्ध मजदूरों द्वारा कम्पनी मैनेजर की हत्या

22 सितम्बर को ग्रेटर नोएडा स्थित ग्रेजियानो कम्पनी से निकाले गये मजदूरों की क्रुद्ध भीड़ ने कम्पनी के मैनेजर को पीट-पीट कर मार डाला। दो महीने पहले अपनी मजदूरी बढ़ाने के लिए आन्दोलन कर रहे 200 मजदूरों को कम्पनी के प्रबन्धकों ने नौकरी से निकाल दिया था। मजदूर अपनी बहाली की माँग कर रहे थे। घटना के दिन प्रबन्धकों ने उन्हें समझौता-वार्ता के लिए बुलाया था। बातचीत के दौरान मजदूरों के प्रतिनिधियों और प्रबन्धकों के बीच किसी बात पर कहा-सुनी होते ही कम्पनी के सुरक्षा गार्ड ने गोली चला दी। धमाके की आवाज सुन कर बाहर खड़े मजदूरों का समूह कम्पनी के अन्दर गया जहाँ दोनों पक्षों के बीच मार-पीट शुरू हो गयी। इस लड़ाई में काफी संख्या में मजदूर और कुछ सुरक्षा कर्मी भी घायल हो गये।

पूँजीपतियों और मजदूरों के बीच आपसी हितों के स्थायी टकराव में मालिकों के गुण्डों द्वारा मजदूरों की पिटाई और हत्या करना तो रोजमर्रे की घटनाएँ हैं। इनमें से ज्यादातर घटनाएँ खबरों की सुर्खियों में भी नहीं आतीं। लेकिन मजदूरों की उग्र भीड़ द्वारा किसी प्रबन्धक की हत्या की ऐसी घटना विरले ही होती है। इस दुर्भाग्यपूर्ण घटना ने सरकार और मालिकों को व्याकुल कर दिया।

घटना के अगले दिन श्रम एवं नियोजन राज्य मन्त्री आस्कर फर्नान्डीज ने एक सम्वाददाता सम्मेलन में कहा कि ग्रेटर नोएडा स्थित इटली की कम्पनी ग्रेजियानो ट्रान्समिसियोनी के मैनेजर की हत्या मजदूरों के बीच सुलग रहे असन्तोष का नतीजा है और प्रबन्धकों को इसे एक चेतावनी के रूप में लेना चाहिए। स्थायी मजदूरों, अस्थायी मजदूरों और ठेका मजदूरों की तनखाह में भारी अन्तर है और संगठित मजदूरों की संख्या में लगातार कमी आयी है। मजदूरों को इतना नहीं दबाना चाहिए कि उन्हें ग्रेटर नोएडा जैसी घटना का सहारा लेना पड़े। श्रम राज्य मन्त्री ने श्रमिकों में पनप रहे असन्तोष के लिए 'हायर एण्ड फायर' (जब चाहो भर्ती करो, जब चाहो निकाल दो) की नीति और कानून को ताक पर रखते हुए मजदूरों के अमानुषिक शोषण को जिम्मेदार ठहराया।

श्रम राज्य मन्त्री के इस बयान ने उद्योग जगत में खलबली मचा दी। फिक्की के अध्यक्ष ने उनके इस बयान को क्षोभकारी बताया। मन्त्री महोदय को अपने मन्त्रिमण्डल और देशी-विदेशी पूँजीपतियों के दबाव में अगले ही दिन अपने बयान के लिए

उद्योगपतियों से माफी माँगनी पड़ी। इण्डो-इटालियन चैम्बर ऑफ कामर्स एण्ड इण्डस्ट्री, इण्डो-अमेरिकन चैम्बर ऑफ कामर्स, फिक्की, एसोचेम और भारतीय उद्योग संघ ने अपने-अपने बयान में इस अभूतपूर्व घटना पर तीखी प्रतिक्रिया व्यक्त की और दोषियों के खिलाफ कड़ी से कड़ी कार्रवाई की माँग की।

उत्तर प्रदेश पुलिस ने चुस्ती-फुर्ती दिखाते हुए हत्या और फसाद के जुर्म में 136 मजदूरों को गिरफ्तार कर लिया। इनमें से 63 लोगों पर मैनेजर की हत्या का अभियोग लगाया गया। सम्भव है कि मजदूरों को कड़ी से कड़ी सजा सुनाई जाए, जिसकी उद्योग संघों ने माँग की है और जिसके लिए उत्तर प्रदेश की मुख्यमन्त्री मायावती ने उन्हें आश्चर्य किया है। घटना के बाद हर तरफ से यह आवाज आने लगी थी कि ऐसी घटनाओं से निवेशकों का विश्वास डगमगायेगा जिससे उत्तर प्रदेश में पूँजीनिवेश प्रभावित होगा। निवेशकों का आत्मविश्वास बनाये रखने के लिए हर तरह से उनकी सुरक्षा और मुनाफे की गारण्टी करना सरकार की जिम्मेदारी है क्योंकि नोएडा के स्वर्ग का वैभव कायम रखने के लिए हर कीमत पर पूँजीनिवेश जरूरी है।

ग्रेटर नोएडा की इस घटना पर श्रम राज्य मन्त्री के जिस बयान के लिए उन्हें उद्योग जगत से माफी माँगनी पड़ी, उसके पीछे उनकी मंशा जो कुछ भी रही हो, लेकिन उनके द्वारा किया गया तथ्यों का बयान, श्रम और पूँजी के वर्तमान रिश्ते का कड़वा सच है। बल्कि सच्चाई उनके मर्यादित, परिष्कृत वक्तव्य से कहीं ज्यादा विद्रूप है। ऐसी दुर्भाग्यपूर्ण घटनाओं की पुनरावृत्ति न हो, इसके लिए सच्चाई को साहस के साथ स्वीकारना जरूरी है। अप्रिय और रूखी सच्चाई से आँख चुराने या उसे झुठलाने से किसी समस्या का अन्त नहीं हो जाता। लेकिन बेलगाम मुनाफे की हवस में अन्धे सरमायेदारों और उनके अदूरदर्शी रहनुमाओं में इतनी सूझबूझ और साहस कहाँ?

आज औद्योगिकीकरण के नाम पर जिन नये इलाकों में देशी-विदेशी कम्पनियाँ अपने उद्योग-धन्धे लगा रही हैं, वहाँ मजदूरों की स्थिति रोम के गुलामों से भी बदतर है। गुलामों के मालिक अमानुषिक शोषण के बदले कम से कम उनके लिए रोटी, कपड़ा और छत का इन्तजाम तो करते ही थे। लेकिन इन उद्योगों में काम करने वाले मजदूरों के लिए कोई सेवा शर्त नहीं है। आवास नहीं, इलाज नहीं, यातायात की सुविधा नहीं, प्रोविडेंट फण्ड नहीं, निश्चित वेतनमान नहीं। अधिकांश मजदूर,

जिस कम्पनी में वे काम करते हैं, उसके कर्मचारी नहीं होते, बल्कि किसी लेबर ठेकेदार या एजेण्ट कम्पनी के मुलाजिम होते हैं जो उनको मनमाने तरीके से जहाँ-तहाँ काम पर लगाते हैं। ट्रेड यूनियन की तो बात ही क्या, अपनी समस्याओं को लेकर प्रबन्धकों के सामने जाने तक की इन्हें इजाजत नहीं होती। जिसने भी ऐसी हिमाकत की, उसका नौकरी से निकाला जाना या कम्पनी के गुण्डों से पिटना तय है।

विदेशी कम्पनियों को पूँजीनिवेश के लिए जिन शर्तों पर रिझाया जाता है, उनमें श्रम कानूनों को लागू न करना और श्रमिकों के असन्तोष को हर कीमत पर काबू में रखना एक प्रमुख शर्त होती है। विदेशी कम्पनियाँ, सस्ते लाचार और दबू मजदूरों के श्रम को मुनाफे में ढालने के लिए ही गरीब देशों में पूँजी लगाती हैं। आजकल अर्थशास्त्र की भाषा में इसे ही श्रम बाजार को उदार और लचीला बनाना कहा जाता है तथा कम से कम मजदूरी में अस्थायी मजदूरों से ज्यादा से ज्यादा काम लेना और उनका खून-पसीना निचोड़ना ही श्रम की उत्पादकता

में वृद्धि करना कहलाता है। ऐसे ही शब्दाडम्बरों की आड़ में इन देशी-विदेशी कम्पनियों की निर्बाध लूट कायम है। राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र में कार्यरत विदेशी कम्पनियों में मजदूरों के साथ जैसा अमानवीय, बर्बर और स्वेच्छाचारी व्यवहार हो रहा है, उसकी तो उनके अपने देशों में कल्पना भी नहीं की जा सकती। साम्राज्यवाद का यह नया धिनौना चेहरा है। उनका एक ही मकसद है, हर कीमत पर जल्दी-जल्दी बेहिसाब मुनाफा बटोर कर चम्पत हो जाना। इस स्थिति को लम्बे समय तक कायम रखना सम्भव नहीं है। दमन-उत्पीड़न की भी एक हद होती है। जहाँ दमन होगा वहाँ प्रतिरोध होना लाजिमी है। खासतौर पर जब संगठित विरोध, सामूहिक मोलभाव और आपसी बातचीत की कोई गुंजाइश न हो तो असन्तोष का अराजक और अनियन्त्रित होना तय है। यह स्थिति उद्योग जगत के लिए ही नहीं, बल्कि मजदूरवर्ग के लिए भी विनाशकारी है। मजदूरवर्ग का धैर्यपूर्ण, सुविचारित और सुसंगठित प्रतिरोध ही उन्हें पूँजी के जुए से मुक्ति दिला सकता है। □

क्लिनिकल परीक्षण

मुनाफाखोरी ने एम्स में 49 अबोध बच्चों की बलि चढ़ायी

देश-विदेश के पहले अंक में बहुराष्ट्रीय कम्पनियों द्वारा सभी नियमों को ताक पर रखकर चलाये जा रहे क्लिनिकल परीक्षण के बारे में एक लेख प्रकाशित हुआ था। उसमें बताया गया था कि किस तरह हमारे देशवासियों की गरीबी व अज्ञानता का लाभ उठाकर उन्हें विदेशी कम्पनियों के मुनाफे के लिए गिनी पिग की तरह इस्तेमाल किया जा रहा है। मौत का यह खेल आज भी बदस्तूर जारी है। यह खेल जितना ही आगे बढ़ता जा रहा है उतना ही विकृत, घृणित और पैशाचिक रूप लेता जा रहा है।

हाल ही में चिकित्साविज्ञान की देश की शीर्षस्थ संस्था अखिल भारतीय आयुर्विज्ञान संस्थान (एम्स) में 49 मासूम बच्चों की क्लिनिकल परीक्षण के दौरान हुई मौत ने क्लिनिकल परीक्षण के फैलते जाल और वीभत्स स्थिति को स्पष्ट रूप से उजागर किया है।

एम्स के बाल रोग विभाग ने 4,142 बच्चों पर 42 चरणों में नयी दवाओं के क्लिनिकल परीक्षण किये। ध्यान देने लायक बात यह है कि इन बच्चों में 2,728 बच्चों की उम्र एक साल से भी कम थी।

देश के उन मासूम नौनिहालों पर ओल्मीसारटन व वालसारटन नामक दो दवाओं का उच्च रक्तचाप कम करने के लिए परीक्षण

किया जा रहा था। पहले कभी भी इन दवाओं का परीक्षण 18 साल से कम उम्र के मरीजों पर नहीं किया गया था जिससे यह पता चलता कि बच्चों पर दवा के क्या दुष्परिणाम होंगे। दवा के नुकसान और उसकी उचित मात्रा के बारे में कुछ भी जाने बिना ही उसे सीधे अबोध और दुधमुहें बच्चों पर आजमाया गया। ज्ञात हो कि बच्चों के इलाज में दवा की मात्रा का विशेष महत्त्व होता है, क्योंकि मात्रा में जरा-सी फेरबदल से वह दवा बच्चों के लिए जहर बन सकती है। इस प्रकरण में सबसे अधिक क्षोभकारी तो यह है कि उच्च रक्तचाप की जिस बीमारी के लिए क्लिनिकल परीक्षण किया जा रहा था, उस बीमारी का प्रचलन हमारे देश के बच्चों में है ही नहीं। सवाल यह है कि जब यह बीमारी हमारे देश के बच्चों की समस्या ही नहीं है, तो किसके फायदे के लिए हमारे मासूमों की बलि दी गयी?

तीसरे चरण के क्लिनिकल परीक्षण के लिए किसी भी दवा कम्पनी को तभी अनुमति मिलती है जब कम्पनी उस दवा को आम जनता के इस्तेमाल के लिए बाजार में उतारती है। हमारे देश में नियम-कानूनों से खेलना आम बात है। खासकर बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के लिए तो यहाँ का कानून बच्चों के हाथ का झुनझुना है। तभी तो 49 बेगुनाह और मासूम बच्चों की मौत के लिए

जिम्मेदार ओल्म्पीसारटन और वालसारटन दवाओं को देश में तृतीय चरण के क्लिनिकल परीक्षण की अनुमति मिल गयी। इन कम्पनियों ने उपरोक्त दवाओं को भारतीय बाजार में उतारने के लिए कोई अनुमति भी नहीं ली थी क्योंकि यहाँ इसकी कोई माँग ही नहीं है। उनका बच्चों पर क्लिनिकल परीक्षण करके उनकी जान क्यों ली गयी?

जवाब साफ है कि ये परीक्षण आम भारतीय बच्चों की बीमारी को दूर करने की चिन्ता में नहीं, बल्कि इन कम्पनियों के यूरोपीय देशों में पेटेन्ट की अवधि बढ़वाने के लिए किये गये थे। अभी हाल ही में पेटा नामक अन्तरराष्ट्रीय एन.जी.ओ. ने एम्स में बन्दरों पर प्रयोग किये जाने से द्रवित होकर इसके खिलाफ भव्य प्रदर्शन किया। जानवरों की पीड़ा से व्यथित इन अभिजातों को 49 बच्चों की मौत से कोई लेना-देना नहीं। इसी तरह जब प्रिन्स नाम का एक बच्चा गड़ढे में गिर गया था तो देश के टी.वी. चैनलों ने प्रिन्स की एक-एक हरकत को कि कब उसने उँगली हिलाई, कैसे उसने बिस्कुट उठाया, कैसे मुँह तक लाया मसालेदार खबर बनाकर सनसनी फैलाने की कोशिश की थी। जो चैनल गड़ढे में पड़े प्रिन्स को भुनाने में पीछे रह गये, वे गड़ढे से बाहर निकलने के बाद उसके पीछे पड़े रहे। किसी ने उसे जाबाँज बच्चा बताया तो किसी ने उसे इनाम देने की घोषणा करके गरीब बच्चों का उद्धारक होने का नाटक किया। लेकिन आज जब बहुराष्ट्रीय कम्पनियों की मुनाफे की हवस ने 49 बच्चों की जान ले ली तो सारी मीडिया ने कमोबेश खामोश रहकर मुनाफाखोरों द्वारा मनाये जा रहे मौत के उत्सव में हिस्सा लिया। अगर वास्तव में उन्हें बच्चों से लगाव होता, नियम-कानूनों की धज्जियाँ उड़ाये जाने की फिक्र होती, मानवाधिकारों की रक्षा की फिक्र होती तो वे मानवता को जिन्दा रखने के लिए और देश की जनता को जागरूक करने के लिए आगे आते। लेकिन

इस खबर को अखबारों के कोनों में यहाँ-वहाँ चन्द लाइनों की जगह ही मिल पायी। काट-छाँट कर और छन-छनाकर यह खबर यदि बाहर आ पायी तो सिर्फ इसलिए कि यह 49 मासूमों की मौत का विकराल मामला था।

क्लिनिकल परीक्षण के कई गम्भीर दुष्परिणाम भी होते हैं, जैसे कई प्रकार के शारीरिक विकार होना, अपाहिज हो जाना, शारीरिक व मानसिक दुर्बलता, कैंसर जैसी बीमारी इत्यादि। हमारे देश की मीडिया को कहाँ इतनी फुर्सत है कि वह इन बारीक तथ्यों की जाँच-पड़ताल और विश्लेषण करे तथा रोगियों को होने वाले दीर्घकालिक विकारों पर नजर रखे। इन बेचारों को तो फैशन-शो की खबर लाने, हीरोइनों के खाने-पहन्ने, उनकी शॉपिंग-डेटिंग का पता लगाने और उनके शरीर के नाप-जोख का लेखा-जोखा लेने, अभिजातों की जीवनशैली का गुणगान करने तथा लोगों को टोने-टोटके और अन्धविश्वास में धकेलने से ही फुर्सत नहीं मिलती। एम्स का बालरोग विभाग ही 4,000 से अधिक दवाओं के क्लिनिकल परीक्षण में संलग्न है। देशभर में कुल कितने क्लिनिकल परीक्षण चल रहे होंगे इसका अंदाजा लगाना आसान नहीं है।

आमतौर पर इस तरह के परीक्षण 'आसान शिकार' यानी गरीब घरों के बच्चों पर ही किये जाते हैं। हालाँकि एम्स के अधिकारियों ने इस बात से इन्कार किया है कि क्लिनिकल परीक्षण में ज्यादातर बच्चे गरीब घरों के थे। लेकिन गरीबी रेखा से नीचे जीवनयापन करने वाले बच्चों की संख्या के बारे में पूछे जाने पर एम्स ने मौनव्रत धारण कर लिया। हर कोई यह जानता है कि किसी भी नयी दवा का परीक्षण किसी टाटा, अम्बानी, मन्त्री, सांसद या नौकरशाह के बच्चे पर नहीं किया जा सकता। जाहिरा तौर पर देशी-विदेशी कम्पनियों की ऊँची-ऊँची इमारतें गरीबों की लाशों की बुनियाद पर ही खड़ी की जाती हैं। □

दवा के नाम पर ज़हर

भारत में दवाओं के व्यापार पर प्रभावशाली नियन्त्रण के अभाव में गैरजरूरी तथा नुकसानदायक दवाएँ धड़ल्ले से बाजार में बिक रही हैं। जो दवाएँ अपने जानलेवा दुष्परिणामों के चलते दुनियाभर में प्रतिबन्धित हैं उनकी बिक्री पर हमारे यहाँ कोई रोक-टोक नहीं है और वे खुलेआम लोगों की जान से खेल रही हैं।

महाराष्ट्र में 1975 के बाद से दवाओं का बाजार चार गुना से अधिक फैल चुका है लेकिन इस दौरान वहाँ कुल 40 दवा निरीक्षकों की ही भर्ती की गयी। वहाँ 2,50,000 थोक 1,50,000 खुदरा लाइसेंसी दवा दुकानों पर नियन्त्रण के लिए केवल 159 दवा निरीक्षक हैं। यही हाल अन्य राज्यों का भी है। जाहिर है कि हमारे देश में दवा नियन्त्रण की स्थिति कितनी बदतर है।

दुनिया भर में प्रतिबन्धित लेकिन भारत में बिकने वाली कुछ दवाएँ

| | |
|---------------------------|--------------------------|
| दवा का नाम | दुष्प्रभाव |
| नोवालजिन | मज्जा में कमी आना |
| सिज़ा, सिसप्राइड | दिल की धड़कन में गड़बड़ी |
| ड्रोपेरोल | दिल की धड़कन में गड़बड़ी |
| फ्यूरोक्सोन, लोभोफेन | कैंसर |
| नाईस, निमुलिड | जिगर खराब होना |
| फ्यूरासिन | कैंसर |
| आगारोल | कैंसर |
| डी कोल्ड, विक्स एक्सन 500 | अभिघात |
| एन्ट्रोविवनोल | आँख खराब होना |

संसद में बहुमत पाने का सौदा कर्मचारी भविष्यनिधि कोष सट्टेबाजी के हवाले

29 जुलाई को कर्मचारी भविष्यनिधि कोष संगठन के केन्द्रीय बोर्ड ने भविष्यनिधि कोष में जमा राशि का प्रबन्धन करने के लिए भारतीय स्टेट के साथ तीन प्राइवेट कम्पनियों को नियुक्त कर दिया। एच. एस. बी. सी. (ए.एम.सी.), आई.सी.आई.सी.आई. (ए.एम.सी.) तथा रिलायंस कैपिटल (ए.एम.सी.) को प्राइवेट फण्ड मैनेजर नियुक्त करने का यह निर्णय कर्मचारियों की गाढ़ी कमाई को सट्टेबाजों के हवाले करने का कुचक्र है। इससे पहले भारतीय स्टेट बैंक के माध्यम से सरकार का श्रम मन्त्रालय इसे नियन्त्रित और संचालित करता था। कांग्रेस पार्टी से जुड़ी एक ट्रेड यूनियन को छोड़कर शेष सभी ट्रेड यूनियनों ने प्राइवेट फण्ड मैनेजरों की नियुक्ति पर सवाल उठाया है और इसका विरोध किया है।

श्रम और रोजगार मन्त्रालय ने दावा किया है कि फण्ड मैनेजरों का चयन क्रेडिट रेटिंग एजेन्सी क्रिसिल की मदद से केन्द्रीय बोर्ड ऑफ ट्रस्टीज यानी सी.बी.टी. ने किया है। इसके लिए 21 आवेदकों में से 17 को तकनीकी बोली लगाने के लिए चुना गया और इसमें से 10 को वित्तीय बोली लगाने के लिए सही पाया गया।

इस फैसले से फण्ड मैनेजर कम्पनियों को 30,000 करोड़ रुपये की राशि सट्टेबाजी में लगाने और खेलने-खाने के लिये उपलब्ध रहेगी। किसको किस अनुपात में फण्ड का प्रबन्धन करने को दिया जायेगा, यह निर्णय बाद में होगा।

वित्तीय लेन-देन और सदस्यों की संख्या की दृष्टि से कर्मचारी भविष्यनिधि कोष संगठन दुनिया का सबसे बड़ा संगठन है। भविष्यनिधि समूह के पास 4.5 करोड़ कर्मचारियों की बचत जमा है। इसका प्रबन्धन त्रिदलीय बोर्ड ऑफ ट्रस्टीज द्वारा होता है जिसमें केन्द्र सरकार, राज्य सरकार और कर्मचारियों व नियोक्ताओं के प्रतिनिधि शामिल होते हैं।

जब ट्रेड यूनियनों के प्रतिनिधियों ने सी.बी.टी. की उपसमिति वित्त एवं निवेश समिति के समक्ष कर्मचारी भविष्यनिधि कोष के निजीकरण का विरोध किया तो उन्हें यह आश्वासन दिया गया कि इस मामले को आगे सी.बी.टी. की बैठक में उठाया जायेगा।

सूची में रिलायंस कैपिटल का नाम अन्तिम समय में शामिल किया गया था, जब सरकार को विश्वास मत हासिल करने के लिए नये सहयोगी बनाने पड़े थे। समाजवादी पार्टी और रिलायंस कम्पनी के अनिल अम्बानी के सम्बन्ध जग- जाहिर हैं। सरकार बचाने और संसद में बहुमत हासिल करने में प्राप्त सहयोग के बदले उनकी कम्पनी को सूची में शामिल कर लिया जाना कोई अचरज की बात नहीं है।

सरकार के इस निर्णय से भविष्यनिधि कोष में जमा अपने ही धन के प्रबन्धन का अधिकार अब कर्मचारियों के हाथ में नहीं रहा। सी.बी.टी. के 40 सदस्यों में कर्मचारियों के केवल 10 प्रतिनिधि

हैं। इस तरह कर्मचारी, जिनका यह पैसा है, खुद ही उसके बोर्ड में अल्पमत में हैं। फिर भी, सरकार का दावा है कि फण्ड के निजीकरण का फैसला बहुमत का फैसला है। यह बहुमत तो वैसा ही है जैसा बहुमत अमरीका आई.एम.एफ. जैसी संस्थाओं में जब चाहे हासिल कर लेता है क्योंकि उसके वोटों की कीमत अधिक होती है।

सभी प्रमुख ट्रेड यूनियनों ने इस निजीकरण का तीखा विरोध किया है। यहाँ तक कि कांग्रेस पार्टी से जुड़ी ट्रेड यूनियन ने भी सरकार के निर्णय का मजबूती से समर्थन नहीं किया है। ट्रेड यूनियनों का कहना है कि भविष्यनिधि में जमा फण्ड को सरकार निजी फण्ड मैनेजरों के जरिये सट्टा बाजार में लगाने को उत्सुक है। दुनिया-भर के पिछले अनुभव बताते हैं कि भविष्यनिधि के पैसे को शेयर बाजार में लगाने से कर्मचारियों को भारी नुकसान उठाना पड़ा है।

सरकार ने जमा बचत पर ब्याज दर 12 प्रतिशत से घटाकर 8.5 प्रतिशत कर दिया है जबकि मुद्रास्फीति 12 प्रतिशत का आँकड़ा पार कर चुकी है। इस तरह भविष्यनिधि में जमा धन का वास्तविक मूल्य तेजी से गिरा है। इतना ही नहीं, सी.बी.टी. ने 5 जुलाई को सम्पन्न हुई अपनी 183 वीं बैठक में कर्मचारी भविष्यनिधि कोष और विविध प्रबन्ध अधिनियम 1952, में संशोधन करके कर्मचारियों के धन पर वर्ष 2008-09 के लिए ब्याजदर बढ़ाने की सिफारिश को स्थगित कर दिया है।

दरअसल सरकार काफी पहले से ही भविष्यनिधि का निजीकरण करना चाहती थी। लेकिन ट्रेड यूनियनों और वामपन्थी सहयोगियों के दबाव के कारण अब तक इस दिशा में कोई कदम नहीं उठा सकी। अब वामपन्थी पार्टियों का दबाव न होने के कारण सरकार ने इस दिशा में तेजी से कदम बढ़ाया है। भविष्यनिधि के प्रबन्धन का काम प्राइवेट फण्ड मैनेजरों के हाथ में देना निजीकरण की दिशा में पहला कदम है। सरकार के इस निर्णय से सी.बी.टी. व्यर्थ की संस्था रह जायेगी क्योंकि निवेश प्राइवेट कम्पनियों द्वारा किया जायेगा। भविष्यनिधि कोष एक सामाजिक सुरक्षा योजना है जिसे सरकार ने मुनाफाखोरों के हवाले कर दिया है। अमरीका और इण्डोनेशिया के उदाहरण बताते हैं कि शेयर बाजार में पैसा लगाने के कारण कई बैंक दिवालिया हो गये और कर्मचारियों को भारी नुकसान उठाना पड़ा।

आर्थिक सुधारों के नाम पर विभिन्न पार्टियों की सरकारें जनता की गाढ़ी कमाई और देश की सम्पत्ति एक-एक कर मुनाफाखोरों के हवाले करती जा रही हैं। कर्मचारियों की जिन्दगी-भर की कमाई को जुए में दाँव पर लगाने का यह फैसला सुधारों के नाम पर लूट-खसोट की नीतियों की ही अगली कड़ी है।

□

उर्वरकों की महँगाई और काला बाजारी किसानों पर एक और कहर

इस वर्ष मानसून की शुरुआत से ही पूरे देश के किसान उर्वरकों की कमी और इनकी कीमतों में भारी बढ़ोत्तरी से परेशान रहे हैं। महाराष्ट्र, आन्ध्र प्रदेश और कर्नाटक सहित देशभर के किसानों में इसे लेकर काफी आक्रोश दिखाई दिया।

हैदराबाद में उर्वरक की सरकारी दुकान पर हुई भगदड़ में एक किसान की मौत हो गयी। कर्नाटक में उर्वरक माँगने पर किसानों को पुलिस की गोली मिली। इसी तरह महाराष्ट्र राज्य के विदर्भ इलाके के अमरावती में भी किसानों को उर्वरक माँगने की कीमत अपने एक साथी की जिन्दगी गवाँकर चुकानी पड़ी।

लातूर, नांदेड़, अकोला, हिंगोली समेत महाराष्ट्र के कई इलाकों में उर्वरकों की आपूर्ति की माँग करने वाले किसानों को पुलिस की लाठी-गोली का सामना करना पड़ा। विदर्भ के वासीम और हिंगोली में पुलिस थानों में उर्वरक बेचना पड़ा जहाँ रात में ही किसान उर्वरक के लिए लाइन लगा लेते थे। उर्वरक विक्रेता बिना पुलिस की मौजूदगी के दुकान खोलने को तैयार नहीं थे। कृषि अधिकारी किसानों के रोष से बचने के लिए इलाके छोड़कर भाग गये। मराठवाड़ा इलाके के पिंजर, अकोला और नांदेड़ के किसानों को तो उर्वरकों के साथ-साथ बीजों के अभाव का भी सामना करना पड़ा।

महाराष्ट्र में पिछले वर्षों की तुलना में इस वर्ष लगभग 60 प्रतिशत कम उर्वरक की आपूर्ति हुई। इसमें भी अधिकांश हिस्सा मुनाफाखोरों के कब्जे में चला गया जो कालाबाजारी के रास्ते महँगे दामों पर बिक रहा है। कालाबाजारियों को इलाके के राजनेताओं का संरक्षण प्राप्त है। कोई उनका कुछ नहीं बिगाड़ सकता। इस तरह किसानों पर दोहरी मार पड़ी है। सरकार ने पहले ही उर्वरक महँगा कर दिया था। डाई अमोनियम फास्फेट की कीमत 490 रुपये प्रति बोरी से बढ़ाकर 600 रुपये प्रति बोरी कर दी थी। कोढ़ में खाज यह कि कालाबाजारी करने वाले किसानों को बढ़ी हुई कीमत पर भी उर्वरक देने को तैयार नहीं थे।

महाराष्ट्र के कपास क्षेत्र के ढेर सारे किसानों ने घाटे से तंग आकर पिछले कुछ समय से कपास की जगह सोयाबीन की फसल उगानी शुरू की थी। सोयाबीन की फसल कम खर्च में तैयार हो जाती है और इसमें उर्वरकों और कीटनाशकों का इस्तेमाल भी कम करना पड़ता है। इसकी बुआई मानसून की

शुरुआत में की जाती है और उसी समय उर्वरक की आवश्यकता होती है। इस साल बुआई का समय निकलता जा रहा था जबकि बाजारों में खाद व बीज उपलब्ध नहीं थे।

किसानों के सामने एक ही विकल्प बचा था कि वे कालाबाजारियों से महँगी कीमत पर जो भी थोड़ा-बहुत उर्वरक व बीज मिल सकें, खरीदें। पहले से महँगाई की मार झेल रहे किसान इस अतिरिक्त बोझ को उठाने के लिए नये कर्ज लेने को मजबूर हुए। सरकारी बैंकों ने कर्ज देने से साफ मना कर दिया क्योंकि उन्हें किसानों से कर्ज वापसी की कोई उम्मीद नहीं है। जिन किसानों को सरकार की कर्जमाफी योजना का थोड़ा-बहुत लाभ मिला था, अब वे भी निजी कर्जदाताओं के चंगुल में फँसने के लिए मजबूर हैं।

उर्वरकों की भारी कमी और कीमतों में बेतहाशा वृद्धि का यह संकट केवल भारत तक ही सीमित नहीं है। दुनियाभर में विकासशील और गरीब देशों के किसान इसकी चपेट में हैं। वियतनाम, केन्या, नाइजीरिया, नेपाल, पाकिस्तान और कई अफ्रीकी देशों में उर्वरकों के लिए दंगे हो रहे हैं। संयुक्त राष्ट्र के खाद्य और कृषि संगठन के वरिष्ठ विश्लेषक डॉ. जॉन पाउलिस्से ने चेतावनी भरे अंदाज में कहा है कि “कृषि उत्पादों की महँगी कीमत पाने वाले विकसित देशों के फार्मर उर्वरक की कीमतें बढ़ने से प्रभावित नहीं होंगे। परन्तु खाद्यानों की महँगाई के इस समय में कीमतें छोटे किसानों को, खासतौर से अफ्रीकी देशों के किसानों को तबाह कर देंगी।

विश्व बाजार में पिछले डेढ़ साल में उर्वरकों की कीमतों में अन्य किसी भी उत्पाद से, यहाँ तक कि तेल से भी ज्यादा बढ़ोत्तरी हुई है। संयुक्त राष्ट्र की रिपोर्ट के अनुसार जनवरी 2007 में डाई अमोनियम फास्फेट (डी.ए.पी.) की अन्तरराष्ट्रीय बाजार में कीमत 1025 रुपये प्रति क्विंटल थी जो अब पाँच गुणा बढ़कर 5043 रुपये प्रति क्विंटल पहुँच गयी है। इसी तरह पोटैश युक्त उर्वरकों के दाम तीन गुणा व नाइट्रोजन युक्त उर्वरकों के दाम दो गुणा बढ़ गये।

संयुक्त राष्ट्र और अन्तरराष्ट्रीय खाद्य विश्लेषकों का मानना है कि अन्तरराष्ट्रीय उर्वरक संकट का कारण तेल की कीमतों में वृद्धि और अमरीकी किसानों द्वारा जैव इंधन देने वाली फसलों में उर्वरकों का अन्धाधुन्ध प्रयोग है जो विश्व के लाखों किसानों को भुखमरी के रास्ते पर ढकेल देगा।

उर्वरक का संकट भारत और पूरी दुनिया में लगातार बढ़ते जा रहे खेती के संकट का एक हिस्सा है और इसके साथ जोड़कर ही इसे पूर्ण रूप में समझा जा सकता है।

कृषि उत्पादों और उर्वरकों के वायदा बाजार में सट्टेबाजों ने भारी पूँजी निवेश की है और वे भरपूर मुनाफा लूट रहे हैं। यह पूरी दुनिया में खाद्यान्नों और उर्वरकों की कीमत बढ़ने का सबसे बड़ा कारण है।

न्यूयार्क टाइम्स के अनुसार “भोजन सोना है। इसीलिए खेती में करोड़ों का निवेश किया गया है।” आदमी किसी भी उपभोक्ता समान के बगैर जिन्दा रह सकता है, परन्तु भोजन और पानी के बिना जिन्दा नहीं रह सकता। अतः पूँजीपति कृषि उत्पादों के बाजार को चिरस्थायी बाजार के रूप में देख रहे हैं। वे लम्बे समय तक अपने मुनाफे को बरकरार रखने के लिए पूरी दुनिया की खेती की जमीन पर कब्जा करना चाहते हैं।

वालस्ट्रीट जर्नल अखबार लिखता है कि “जब दुनिया के अलग-अलग हिस्सों में खाने के लिए दंगे हो रहे हैं तो ऐसे समय में बड़े पैमाने की खेती बेरोकटोक भारी मुनाफा बटोरने का सबसे अच्छा साधन है।” वालस्ट्रीट जर्नल दैत्याकार कम्पनी आर्थर डेनियल मिडलैण्ड का उदाहरण देते हुए बताता है कि पिछली तिमाही में इस कम्पनी के मुनाफे में 42 प्रतिशत की छल्लों लगी। इसी समय खाद्यान्नों का भण्डारण, परिचालन और व्यापार करने वाली इस कम्पनी की इकाइयों का मुनाफा सात गुणा बढ़ा है। इन्हीं कामों

में लिप्ट मोनसैण्टो और उर्वरक बनाने वाली मोजाइक कार्पोरेशन का मुनाफा भी पिछली तिमाही में छल्लों लगाकर बढ़ा है।

भविष्य में दुनियाभर में खाद्य पदार्थों के व्यापार से भारी मुनाफे की उम्मीद में बड़े-बड़े निवेशक कृषि उत्पादों की सट्टेबाजी कर रहे हैं। वे जमीन, उर्वरक, कृषि उपकरण और ढुलाई के लिए जहाजी बेड़े बनाने में भी निवेश कर रहे हैं। एक कम्पनी ने उर्वरक के 60 वितरण केन्द्र तथा नौकाओं और जहाजों का एक बेड़ा खरीदा है। ब्लैक रॉक नाम की एक अन्य दैत्याकार कम्पनी खेती की जमीन खरीदने के लिए हजारों करोड़ डालर खर्च करने की योजना बना रही है।

जनता के भोजन को “सोना” समझने वाली दैत्याकार कम्पनियों ने खेती पर कब्जे की शुरुआत ही की है कि दुनियाभर में अनाज के लिए दंगे होने लगे और खाद्यान्नों की कीमतों में वृद्धि के कारण दुनिया की बहुसंख्य आबादी की भुखमरी पहले से भी भयावह स्थिति में पहुँच गयी। आने वाले दिनों में जब इन कम्पनियों का दुनिया की खेती पर वर्चस्व कायम हो जायेगा तब यह संकट कितना विकट हो जायेगा, इसकी कल्पना करना भी मुश्किल है।

ऐसा नहीं हो सकता कि दुनिया भर की जनता इस तबाही को चुपचाप सहन कर जाये। बारूद के ढेर पर बैठकर दुनिया के हुक्काम और थैलीशाह भला कब तक चैन की साँस लेते रहेंगे।

□

भूख से मरता बचपन

देश को महाशक्ति बनने की मनमोहक चर्चाएँ चलती रहीं और मध्य प्रदेश के 125 मासूम बच्चों को ‘भूख’ नामक महामारी ने निगल लिया। आर्थिक महाशक्ति की आर्थिक राजधानी जिस महाराष्ट्र में स्थित है, वहाँ अप्रैल से जुलाई के बीच अन्न के ‘अभाव’ में 176 बच्चे अकाल मौत के शिकार हो गये। स्थानीय प्रशासन ने अपनी लापरवाही को मृतक बच्चों के परिवार जनों की लापरवाही और अन्धविश्वास के मत्थे मढ़ दिया और अपनी जिम्मेदारी से पल्ला झाड़ लिया।

इन मौतों का कारण कुपोषण की जगह बीमारी बताकर राज्य मशीनरी खुद ही अपने को नंगा कर रही है, क्योंकि कोई भी समझदार व्यक्ति यह जानता है कि कुपोषित बच्चे ही प्रतिरोध क्षमता न होने के चलते सबसे ज्यादा बीमारी की चपेट में आते हैं और मौत के मुँह में समा जाते हैं।

जब व्यवस्था का संकट घर-घर काँटे बनकर उगने लगता है तो व्यवस्था को चलाने वाले जनता में अपने बारे में फर्जी विश्वास बनाए रखने के लिए कुछ काँटे उखाड़ने वाली टीम का गठन करते हैं जिसका नतीजा शून्य के अलावा कुछ नहीं होता। इसी नीति का अनुसरण करते हुए इन घटनाओं की जाँच के लिए सुप्रीम कोर्ट ने एक उच्चस्तरीय टीम का गठन किया है। यदि आतंकवादी हमलों का पता लगाने के लिए पूरे देश में धरपकड़ का अभियान चलाया जा सकता है तो क्या इन 300 से भी अधिक मासूमों की मौतों के लिए जिम्मेदार लोगों को सजा नहीं होनी चाहिए! बिना व्यवस्था में आमूल चूल परिवर्तन किये ऐसे मासूमों को असमय मौत के मुँह में जाने से रोक पाना क्या सम्भव है?

□

बीजिंग ओलम्पिक और भारतीय खेलों की दुर्दशा

अगस्त माह में चीन के बीजिंग शहर में 29वाँ ओलम्पिक सम्पन्न हुआ। इसमें खेल कौशल और विश्व स्तर की प्रतिस्पर्धा मेजबानी में चीन को अभूतपूर्व सफलता और प्रतिष्ठा प्राप्त हुई। 17 दिनों के इस रोमांचक सफर में जिस चीन ने अपना पहला स्वर्ण पदक दो दशक पहले ही हासिल किया हो, उसके लिए पदक तालिका की चोटी पर पहुँचना एवरेस्ट को चूमने की तरह था। चीन ने 16 दिन में मेजबानी से लेकर खेल के मैदान तक हर क्षेत्र में मैदान मारने में कोई कसर नहीं छोड़ी। 51 स्वर्ण सहित 100 पदक जीतकर उसने अमरीका और रूस के आधिपत्य को तोड़ दिया।

भारत के लिए भी बीजिंग ओलम्पिक इस अर्थ में ऐतिहासिक रहा कि पहली बार भारत ने एक व्यक्तिगत स्वर्ण सहित तीन पदक जीते। अभिनव बिन्द्रा ने स्वर्ण और सुशील कुमार तथा विजेंदर ने काँस्य पदक हासिल किये। मुक्केबाजी में अखिल कुमार और बैडमिंटन में सायना नेहवाल ने भी सराहनीय प्रदर्शन किये। पूरा देश भले ही बिन्द्रा के स्वर्ण पदक जीतने पर गर्वित हो रहा हो लेकिन इसमें कोई सन्देह नहीं कि यह बिन्द्रा की व्यक्तिगत सफलता है। उसके उद्योगपति पिता ने निशानेबाजी के लिए जरूरी साधन और प्रशिक्षण पर 10 करोड़ रुपये खर्च किये थे और 80 लाख रुपये भारत सरकार ने। अब तक के ओलम्पिक खेलों में हम हॉकी में ही स्वर्ण पदक लाते रहे हैं, लेकिन इस बार तो हमारा राष्ट्रीय खेल ओलम्पिक के लिए क्वालीफाई तक नहीं कर सका।

विचारणीय है कि सवा सौ करोड़ की आबादी वाले हमारे देश की ओलम्पिक खेलों में क्या हैसियत है। छोटे-छोटे देश तक हमसे आगे रहते आए हैं और हम इन व्यक्तिगत सफलताओं के बूते बमुश्किल शीर्ष पचास देशों में स्थान बना पाए। सुशील और विजेंदर की कामयाबी दर्शाती है कि कितने अभावों में हमारे खिलाड़ी पल-बढ़ रहे हैं। आज जीत के बाद भले ही उन्हें लाखों-करोड़ों के इनाम दिए जा रहे हैं, लेकिन यही पैसा अगर सरकार पहले ही इन खेलों और खिलाड़ियों पर खर्च करती तो शायद हमारे खिलाड़ी और बेहतर प्रदर्शन करते।

बहरहाल, ओलम्पिक के 108 साल के इतिहास में भारत के खाते में यह पहला व्यक्तिगत स्वर्ण पदक केवल जश्न मनाने का नहीं, हमारी समूची खेल नीति पर भी विचार करने का अवसर है। 1980 के मास्को ओलम्पिक में भारतीय हॉकी टीम ने स्वर्ण पदक हासिल किया था। उसके बाद विश्व खेल प्रतियोगिताओं में एक स्वर्ण पदक हासिल करने के लिए तीन दशकों तक इन्तजार

करना पड़ा, आखिर क्यों? जिस देश में खेल नीति के नाम पर कोई स्पष्ट नीति ही न हो, जिस देश में खेल संस्कृति नाम की कोई चीज ही न हो और जहाँ हर अभिभावक और शिक्षक की जुबान पर यह कहावत हो कि “खेलोगे-कूदोगे होंगे खराब” वहाँ हमें अपनी वर्तमान दुर्दशाओं पर गम्भीरता से विचार करना जरूरी है।

सच्चाई तो यह है कि ओलम्पिक की सर्वप्रमुख स्पर्धाओं एथलेटिक्स और तैराकी में तो हमारे खिलाड़ियों को क्वालीफाई करने तक के लाले पड़ रहे थे। दुनिया में आबादी के हिसाब से नम्बर दो व भौगोलिक क्षेत्रफल के हिसाब से सातवाँ स्थान रखने वाला देश ओलम्पिक खेलों में उन देशों का भी मुकाबला नहीं कर पा रहा, जिनका क्षेत्रफल देश के किसी एक राज्य या जिले के बराबर है। इसके लिए जिम्मेदार है यहाँ की सरकार, जिसके पास खेलों के विकास के लिए कोई ठोस योजना और ढाँचा नहीं है। खिलाड़ियों के समुचित प्रशिक्षण, रहन-सहन, खान-पान, शिक्षा आदि की कोई समुचित व्यवस्था नहीं की जाती। पदक जीतने के बाद भले ही खिलाड़ियों पर धनवर्षा हो रही है परन्तु यही खिलाड़ी ओलम्पिक में जाने से पहले पटियाला के प्रशिक्षण शिविर में तैयारी करते हुए आरामदायक कमरों के अभाव और उचित खुराक न मिलने का दुखड़ा रो रहे थे या फिर निशानेबाज अभ्यास के लिए कारतूस न मिलने का रोना रो रहे थे। यहाँ तक कि ओलम्पिक जाने वाले मुक्केबाजों के साथ उनके कोच को भी नहीं भेजा जा रहा था और कुश्ती टीम के साथ कोई सहायक स्टाफ (मालिश करने वाला, फिजियोथेरापिस्ट, डॉक्टर इत्यादि) नहीं भेजा गया जबकि देश के निकम्मे और परजीवी नेता अपने सगे-सम्बन्धियों और चाटुकारों का झुण्ड लेकर दुनिया भर की सैर करते रहते हैं।

भारत में खेलों के विकास की एक मुख्य बाधा यह भी है कि हमारे समाज की आम आबादी में खेलों का कोई महत्त्व नहीं है। “खेलोगे कूदोगे बनोगे खराब, पढ़ोगे लिखोगे बनोगे नवाब” को आदर्श वाक्य मानने वाले इस देश में आज भी खेलों को घटिया और बेकार समझा जाता है। सदियों से इस देश की बहुसंख्य आबादी भीषण गरीबी, अभाव और उपेक्षा का शिकार रही है। यही कारण है कि मुट्ठीभर अमीरों को छोड़कर देश की अधिकांश जनता की जिन्दगी में खेल और मनोरंजन के लिए कोई जगह नहीं होती। लेकिन तमाम प्रतिकूल परिस्थितियों को पार कर यदि किसी गरीब की सन्तान खेल में आगे निकल भी जाए तो उसकी कहीं कद्र नहीं होती। समाज और सरकार की उपेक्षा उसके मनोबल को तोड़ने का ही काम करती है। देश की आबादी का बड़ा हिस्सा

किशोर है। 24.2 करोड़ यानी 22.8 प्रतिशत लोग 12 से 18 साल की आयु सीमा में हैं। इतनी बड़ी आबादी को अगर स्कूल स्तर से ही उच्च स्तर का प्रशिक्षण दिया जाए तो क्या यह सम्भव नहीं कि हम अपने युवाओं को पदक जीतने के लायक बना सकें। लेकिन हमारे शासकों ने अपने नकारेपन को छुपाने के लिए भारत को एक खेल का देश बना दिया। मुनाफे के सौदागरों ने क्रिकेट के सामने अन्य सभी खेलों को बौना कर दिया है। बी.सी.सी.आई., पूंजीपतियों और क्रिकेट खिलाड़ियों की आपसी साँठ-गाँठ के चलते क्रिकेट का बाजारीकरण किया गया। क्रिकेट से कमाई होती है, इसके बड़े-बड़े प्रायोजक हैं, इसलिए वह लोकप्रिय है। क्रिकेट के खिलाड़ी खेल से ज्यादा विज्ञापन में नजर आते हैं। वे लोगों के लिए प्रेरणास्पद न बनकर कमाई करने का स्रोत बन गये हैं। इस मायने में क्रिकेट की अति ने अन्य खेलों से लोगों का ध्यान हटाया है। भारत में प्रिंट मीडिया और टी.वी. में भी क्रिकेट ही नजर आता है। चूँकि अन्य खेलों के प्रसारण में मुनाफे की गुंजाइश नजर नहीं आती, इसलिए मीडिया और टी.वी. चैनल अन्य खेलों से पूरी तरह किनारा कर लेते हैं और जनता भी क्रिकेट के मोहपाश में बँधी रहती है।

दूसरे खेलों के महासंघों और उनके प्रशिक्षकों की स्थिति अत्यंत दयनीय हैं। हॉकी, कुश्ती, कबड्डी, मुक्केबाजी, भारोत्तोलन या किसी भी अन्य खेल को लें, हर खेल के महासंघ में कुर्सी के लिए खींचतान चलती रहती है। खेलों के विकास के बजाय महासंघ के पदाधिकारी अपने विकास पर ज्यादा ध्यान देते हैं। उनका पूरा समय अपने पद को बरकरार रखने व महासंघ में अपने चहेतों को स्थापित करने में निकल जाता है। हॉकी महासंघ का उदाहरण सबसे ताजा है, जिसमें के.पी.एस. गिल की तानाशाही के चलते राष्ट्रीय खेल हॉकी को शर्मसार होना पड़ा व ओलम्पिक के इतिहास में पहली बार भारतीय हॉकी को सम्मिलित होने से वंचित रहना पड़ा। महासंघों की मनमानी का एक और उदाहरण मोनिका देवी है। आरोप है कि अपने चहेते खिलाड़ी को ओलम्पिक में न भेज पाने के कारण भारोत्तोलन महासंघ के पदाधिकारियों ने मोनिका देवी के खिलाफ षड्यन्त्र कर उसे ओलम्पिक में भाग नहीं लेने दिया। ऐसे ही अनेक प्रतिभाशाली खिलाड़ी, प्रशिक्षकों और महासंघ के पदाधिकारियों की राजनीति का शिकार होते रहे हैं। प्रशिक्षकों द्वारा खिलाड़ियों का मानसिक व शारीरिक शोषण होता है। खेल में प्रतिभा के बजाय भाई-भतीजावाद, को तवज्जो दी जाती है, परिणाम स्वरूप आज भारतीय खेलों की इतनी दयनीय हालत है।

इसी के साथ यहाँ खेल के साथ सरकारी खिलवाड़ का उल्लेख करना भी आवश्यक है। हमारे केन्द्रीय खेल मंत्री आजकल शेखी बघारते नहीं थकते कि राष्ट्रमण्डल खेलों के लिए सरकार

ने 700 करोड़ रुपये का प्रावधान रखा है। इस राशि से खिलाड़ियों को प्रशिक्षण और जेब खर्च दिया जाएगा ताकि कोई खिलाड़ी यह न कहे कि प्रशिक्षण और विदेश जाने के लिए धन उपलब्ध नहीं हैं, जबकि सच्चाई यह है कि राष्ट्रमण्डल से पहले ही अक्टूबर 2008 में पूना में होने वाले युवा राष्ट्रमण्डल खेलों के प्रशिक्षण के लिए पटियाला, बैंगलूर, कलकत्ता आदि शहरों में विभिन्न टीमों के लिए प्रशिक्षण शिविर लगे हैं। खिलाड़ियों को वहाँ पूरी वेशभूषा तक मुहैया नहीं है, जबकि खिलाड़ियों की वेशभूषा के नाम पर 6000 रुपये प्रति खिलाड़ी आबंटित हो चुका है। खेलों के नाम पर होने वाली लूट के बारे में पूर्व केन्द्रीय खेल मंत्री मणिशंकर अय्यर ने कहा था कि “राष्ट्रमण्डल जैसे खेलों के आयोजन से न तो भारतीय खेल का और न ही भारतीय खिलाड़ियों का भला होना है।” इस हकीकत को बयान करने की कीमत उन्हें अपने पद से हाथ धोकर चुकानी पड़ी थी। भारत के 700 करोड़ के मुकाबले चीन ने बीजिंग ओलम्पिक की तैयारी के लिए 20 हजार करोड़ डॉलर सिर्फ खिलाड़ियों को तैयार करने, उनके उपकरणों, खाने-पीने, प्रशिक्षण व सहायक स्टाफ पर खर्च किये थे।

हमारे तन्त्र के साथ सबसे बड़ी दिक्कत यह है कि मुश्किल से अर्जित सफलता को आम आदत बनाने की कोशिश ही नहीं की जाती। बिंद्रा का यह कहना कि यह पदक भारत में ओलम्पिक खेलों का चेहरा बदलेगा, बताता है कि सरकार को अन्य खेलों पर ध्यान देने की जरूरत है। दूसरी ओर अपनी अन्तिम जीत के बाद अखिल का कहना कि, “अगर मैं न जीत पाऊँ, तो भी मुझे भुला मत देना” एक भारतीय खिलाड़ी के मर्म को हमारे सामने रखता है। हमारी व्यवस्था ऐसी हो गयी है कि प्रतिभाशाली खिलाड़ी खुद को मजबूर और उपेक्षित महसूस करने के लिए अभिशप्त है। चूँकि भारतीय समाज कुण्ठाओं का शिकार है, इसलिए वह स्वस्थ मानसिकता के खिलाड़ी नहीं दे सकता। जिस देश का नौजवान जीविका की मजबूरी में खेल में सिर्फ रोजगार के अवसर मात्र ढूँढ़ता हो उससे भला क्या उम्मीद की जा सकती है! पदक विजेता विजेन्द्र भिवानी स्थित क्लब में जहाँ अभ्यास करता था, वहाँ पर अधिकांश मुक्केबाज सिर्फ नौकरी पाने के लिए ही इस खेल को अपनाते हैं।

जिस देश की सरकार पूंजीपतियों और मुनाफाखोरों के हाथ की कठपुतली हो, जो सरकार नित नयी-नयी जन विरोधी नीतियों का निर्माण करती हो, जिस देश की सरकार गैर बराबरी और शोषण को दिन दूना रात चौगुना बढ़ावा देती हो, जिस देश की 80 प्रतिशत जनता 20 रुपये रोज पर गुजारा करती हो और जहाँ प्रतिभाओं को निखारने की कोई ढाँचागत योजना न हो, वहाँ के युवा वर्ग से किसी भी विश्वस्तरीय प्रतियोगिता में पदक की आस करना बेमानी होगा। इसके लिए तो इस पूरे तन्त्र को ही खेल के समतल मैदान में बदलना होगा। □

दक्षिण अफ्रीका में अश्वेतों के बीच खूनी संघर्ष

बीते मई माह में दक्षिण अफ्रीका में एक अभूतपूर्व संकट पैदा हो गया। एक समय नेल्सन मण्डेला के नेतृत्व में रंगभेद के खिलाफ गोरों शोषकों से लड़कर आजाद हुए अश्वेत नागरिक आज अपने ही जैसे गरीब, शोषित अश्वेतों के खून के प्यासे हो गये। देखते ही देखते वहाँ व्यापक जनसंहार की आशंकाएँ जन्म लेने लगीं। जोहानसबर्ग के आस-पास की बस्तियों में दंगे भड़क उठे। अश्वेत लोगों ने दूसरे देशों से आये अश्वेतों पर हमला बोल दिया। हिंसा इतनी व्यापक और भयावह थी कि मई माह के अन्त तक इसकी चपेट में आकर साठ से ज्यादा अश्वेत आप्रवासी मजदूरों को जान से हाथ धोना पड़ा। हजारों को बुरी तरह पीटा गया और करीब एक लाख लोगों को अपना घर-बार और वह सभी कुछ छोड़कर विस्थापित होना पड़ा जो कठोर मेहनत से जमा किया गया भविष्य का सपना था।

1994 के बाद पहली बार स्थिति को नियंत्रित करने के लिए स्थानीय प्रशासन को सेना की मदद लेनी पड़ी। दंगों के शिकार लोग वे आप्रवासी अश्वेत मजदूर थे जो बेहतर जीवन की तलाश में जिम्बाबवे, मोजाम्बिक, मालावी, इथोपिया, स्वाजीलैण्ड, लेसेथो और नाईजीरिया तक से यहाँ पहुँचते थे। कानूनी दस्तावेजों के अभाव में वे किसी किस्म की कानूनी कार्यवाई करने में भी सक्षम नहीं होते। रोजगार के अवसर की तलाश में यहाँ पहुँचे इन लोगों में कुशल मजदूर, आई.टी. प्रोफेशनल, इंजीनियर, डॉक्टर और विज्ञान के शिक्षक भी शामिल हैं।

अश्वेत लोगों का अपने ही जैसे अश्वेतों पर बर्बर हमले करना कुछ गम्भीर प्रश्नों पर ध्यान खींचता है। यह घटना एक विश्वव्यापी परिघटना का हिस्सा है। इसका फौरी कारण यह है कि 5 फीसदी की औसत वृद्धि दर वाली यहाँ की अर्थव्यवस्था अपने देश के मूल निवासियों को सामाजिक सुरक्षा, स्वास्थ्य, रोजगार, भोजन, मकान और परिवहन जैसी मूलभूत सुविधाएँ भी मुहैया नहीं कर पाती। ऐसे में उपेक्षा और बदहाली के शिकार वहाँ के स्थानीय मजदूर अपेक्षाकृत कम विकसित पड़ोसी देशों से आने वाले अपने वर्गबन्धुओं को ही अपना दुश्मन मान बैठते हैं और सोचते हैं कि वे उनके सीमित संसाधनों में संघ लगा रहे हैं।

दक्षिण अफ्रीका अफ्रीकी महाद्वीप का एक समृद्ध देश है जिसके उत्तर में नामीबिया, बोत्स्वाना, जिम्बाबवे, मोजाम्बिक व स्वाजीलैण्ड हैं। यहाँ विभिन्न संस्कृतियों और नस्लों के लोग रहते हैं तथा अपनी विपुल खनिज सम्पदा और उन्नत कृषि उत्पादन की बदेीलत यह दक्षिण अफ्रीकी विकास संघ के 14 देशों में सर्वोच्च स्थान पर बना हुआ है।

स्थिति का दूसरा पक्ष यह भी है कि दक्षिण अफ्रीकी ट्रेड यूनियन कांग्रेस के अनुसार यहाँ बेरोजगारी की दर 40 फीसदी है। आज भी यहाँ की 20 फीसदी जनता निरक्षर है। यहाँ की आबादी में 79 फीसदी अश्वेत लोग हैं। दक्षिण अफ्रीका की स्थिति शेष अफ्रीका से इस मायने में भिन्न है कि इसकी विकास दर और प्रति व्यक्ति आय शेष अफ्रीकी देशों से काफी बेहतर है। इसीलिए लोग रोजगार की बेहतर सम्भावनाओं

के लिए दूसरे अफ्रीकी देशों से पलायन कर यहाँ आ पहुँचते हैं।

स्थानीय मजदूर वर्ग यह तो देखता है कि आप्रवासी मजदूर रोजगार के संघर्ष में उनसे होड़ कर रहे हैं, लेकिन इस तथ्य को नजरअन्दाज कर देता है कि आप्रवासी मजदूरों का अपनी जमीनों से उजड़कर वहाँ आना उनका शौक नहीं बल्कि विश्व पूँजीवादी व्यवस्था की देन है। साम्राज्यवादी वैश्वीकरण के इस दौर में श्रमशक्ति का पलायन करना और रोजगार की तलाश में भटकना पूँजीवादी व्यवस्था की लूट-खसोट के विनाशकारी नतीजों में से एक है।

मजदूरों का विस्थापन अब एक विश्वव्यापी परिघटना का रूप ले चुका है। जर्मनी में भारतीयों पर हमले, ब्रिटेन में भारतीय सिखों और मुस्लिमों पर हमले, अमरीका और खाड़ी के देशों में भारतीय श्रमिकों के साथ गुलामों से भी बदतर व्यवहार और अब भारत में ही काम की तलाश में एक राज्य से दूसरे राज्य में जाने वालों पर अपने ही देश में हमले शुरू हो चुके हैं। महाराष्ट्र में मराठी बनाम गैर मराठी का झगड़ा लगाकर बिहार, उत्तर प्रदेश और अन्य उत्तरी राज्यों से गये दिहाड़ी मजदूरों से लेकर छोटे व्यवसायियों, मध्यमवर्गीय नौकरी-पेशा लोगों और उच्च मध्यम वर्ग के लोगों पर भी राज ठाकरे के उकसावे में आकर स्थानीय लोगों ने बर्बर हमले किये।

राजधानी दिल्ली में दक्षिणी राज्यों, हरियाणा, उत्तर प्रदेश और बिहार से जो लोग इस अर्थव्यवस्था की चक्की पीसकर अपनी जिन्दगी गुजारने पहुँचते हैं, उन्हें स्थानीय लोग दोगम दर्जे का नागरिक समझते हैं और शब्द-बाण या भाव-भंगिमाओं से उनको इसका अहसास कराते हैं। सबसे अधिक श्रमिकों की आपूर्ति करने वाले बिहार, पूर्वी उत्तर प्रदेश, उड़ीसा, बंगाल, छत्तीसगढ़ और झारखण्ड के लोगों को दिल्ली और आसपास के औद्योगिक इलाकों में आदमी नहीं समझा जाता। बिहारी, पुरबिये और भइये आज गाली का पर्याय हो गया है। पंजाब के कई शहरों में भी बाहर से आये मजदूरों पर कातिलाना हमले हुए हैं। दरअसल, आज के दौर में श्वेत-अश्वेत, हिन्दीभाषी- अहिन्दीभाषी, मराठी-गैर मराठी जैसे सवाल बेमानी हो चुके हैं। सवाल मूलतः शोषणकारी पूँजीवादी व्यवस्था की गलाकाटू प्रतियोगिता में अपना अस्तित्व बचा लेने का है।

पूँजीवादी व्यवस्था में असमान विकास तथा उत्पादन के साधनों और अन्य प्राकृतिक संसाधनों पर मुट्ठी भर लोगों का कब्जा होना बहुसंख्यक मेहनतकश लोगों के जीवन के लिए खतरा बन जाता है।

मुनाफे पर टिकी पूँजीवादी व्यवस्था की जगह श्रम-केन्द्रित, मानव केन्द्रित व्यवस्था का निर्माण ही दुनियाभर में आपसी भाईचारे की पूर्वशर्त है।

रंग नस्ल, मजहब, भाषा और इलाके के किसी नकली बँटवारे के आधार पर लड़ना-लड़ाना इस पूँजीवाद की देन है और यह इसी व्यवस्था को मजबूत भी बनाता है। दक्षिण अफ्रीका हो या महाराष्ट्र, फ्रांस हो या ब्रिटेन, आपस में लड़ने के बजाय मजदूर वर्ग को संगठित होकर इन पूँजीवादी कुचक्रों का जवाब देना होगा। □

एकध्रुवीय विश्वव्यवस्था में दरार

अमरीका ने पाँच साल पहले जिस जॉर्जिया को हथियारों और बमवर्षक विमानों से लैस किया था और उसे अपना रणनीतिक साझेदार घोषित किया था, उसी जॉर्जिया पर हमला करके रूस ने न ही केवल उसके अहंकार को चूर कर दिया बल्कि अमरीका को भी कड़ी चेतावनी दी है। यूरोपीय यूनियन भी युद्धविराम के लिए रूस पर दबाव डालने में नाकाम रही। हमला के दौरान बुश और पुतिन अगल-बगल बैठकर वीजिंग ओलंपिक के उद्घाटन समारोह का आनन्द ले रहे थे।

इस तरह 1991 के बाद बनी एकध्रुवीय नयी विश्वव्यवस्था की अमरीकी चौधराहत में रूस ने विघ्न डाल दिया। रूसी राष्ट्रपति मेद्वेदेव ने स्पष्ट शब्दों में कहा कि अब नयी सुरक्षा प्रणाली तैयार करनी होगी और वह “जिसकी लाठी उसकी भैंस” के नियम से नहीं चलेगी।

अपनी इस रणनीति पर आगे बढ़ते हुए रूस ने सीरिया में नौसिक अड्डा बनाने की योजना बनायी है तथा ईरान के साथ उसकी बातचीत चल रही है। उसने मध्य एशिया के सहयोगी देशों कजाखिस्तान, उज्बेकिस्तान, ताजिकिस्तान और किरगिजिस्तान के साथ मिलकर एक सैन्यबल स्थापित करने की भी योजना बनायी है, ताकि इस क्षेत्र में सम्भावित हमलों से निपटा जा सके। नाटो को चुनौती देने के उद्देश्य से बनाया गया शंघाई सहयोग संगठन, जिसमें रूस की महत्वपूर्ण भूमिका है, धीरे-धीरे मजबूत होता जा रहा है।

उधर कैरीबिया और लैटिन अमरीका में भी रूस ने अपना पाँव पसारना शुरू कर दिया है। हाल ही में उसने वेनेजुएला में टी.यू. 160 नाम का भारी बमवर्षक विमान भेजा है। इतना ही नहीं, वेनेजुएला के जलक्षेत्र में भी वह जल्दी ही युद्धक विमानों का अड्डा बनाने जा रहा है तथा उसके साथ संयुक्त नौसैनिक और सैनिक अभ्यास करने वाला है।

जॉर्जिया को नाटो की सदस्यता दिये जाने के खिलाफ रूस लगातार चेतावनी दे रहा है कि वह इसे बर्दाश्त नहीं करेगा। उधर पोलैण्ड में अमरीका द्वारा मिसाइल लगाये जाने के खिलाफ रूस ने चेतावनी दी है कि यदि ऐसा हुआ तो वह पोलैण्ड के खिलाफ नाभिकीय अस्त्रों का भी प्रयोग कर सकता है। अमरीकी मिसाइल कार्यक्रम के जवाब में रूस ने 2004 में ही अपना मिसाइल कार्यक्रम शुरू कर दिया था।

रूस के वर्तमान प्रधानमंत्री पुतिन ने कहा है कि अमरीका का गोलीबारी और बमबारी का जो तरीका अफगानिस्तान, इराक और मध्यपूर्व में कारगर नहीं हुआ वह यहाँ कैसे कारगर हो सकता है। उन्होंने यह भी कहा है कि यदि अमरीका युद्ध को अपनी विदेश नीति का कारगर हथियार मानता है, तो वह न तो अभी कामयाब हो सकता है और न ही आगे कामयाब होगा।

1991 में विघटन के बाद रूसी अर्थव्यवस्था बहुत ही कमजोर हो गयी थी। स्थिति यहाँ तक पहुँच गयी थी कि एक समय दुनिया

पर प्रभुत्व जमाने की होड़ में विकट प्रतिद्वन्द्वी रहे रूस को अमरीकी निर्देश मानने पड़े थे। रूसी खेमे के पतन के बाद जो एकध्रुवीय साम्राज्यवादी विश्व-व्यवस्था अस्तित्व में आई, उसका सरगना अमरीका बना।

रूस में 1917 में इंकलाब होने और उसके बाद समाजवादी निर्माण के समय उसकी उत्पादक शक्तियाँ, खासतौर पर मनुष्य की चेतना बहुत उन्नत हो गयी थीं। यही रूस की थाती थी, जो उसके पूँजीवादी राह पर चल पड़ने और साम्राज्यवादी हो जाने के बाद भी बरकरार रही। राष्ट्रपति पुतिन ने अपने शासन काल में रूस की इस आन्तरिक शक्ति का पुनरुत्थान किया और अमरीका के सामने घुटने टेकने के बजाय आत्मनिर्भर विकास की योजना बनायी। उसके पास तेल, गैस और परमाणु उर्जा के स्रोत तथा अन्य संसाधन और तकनीक की कोई कमी नहीं थी। इस तरह, रूस धीरे-धीरे उठ खड़ा हुआ और एकध्रुवीय विश्वव्यवस्था के शिखर पर बैठे अपने पुराने प्रतिद्वन्द्वी अमरीका के लिए परेशानी पैदा करने लगा। आज स्थिति यह है कि दिनोदिन गहराती आर्थिक मंदी के कारण अमरीका की आन्तरिक स्थिति काफी डाँवाडोल है। कुछ विश्लेषक तो यह भी मानने लगे हैं कि अब दुनिया एकध्रुवीय नहीं रही। हालाँकि यह नतीजा निकालना जल्दबाजी होगी।

आज रूस को इस पर एतराज है कि यूरोपीय सुरक्षा की रूपरेखा उसे अलग-थलग करके बनायी जाय, जो खुद रूस के ही खिलाफ हो और यह सुरक्षा प्रणाली एक गैर यूरोपीय देश अमरीका द्वारा बनायी जाय।

वेनेजुएला, सीरिया, ईरान, मध्य एशिया इत्यादि में रूस का बढ़ता प्रभाव अमरीका के लिए सिरदर्दी बन गया है। राष्ट्रपति मेद्वेदेव ने अमरीका की ओर इशारा करते हुए कहा है कि कोई पसन्द करे या न करे, जो देश हमसे दोस्ती करना चाहते हैं उनसे रक्षा व अन्य क्षेत्रों में सम्बन्ध प्रगाढ़ किये जायेंगे। उन्होंने यह भी कहा कि रूस अब 1990 की तरह कमजोर नहीं रह गया है और अब रूस की अवहेलना नहीं की जा सकती तथा उसे तरजीह देनी पड़ेगी।

वर्तमान दौर में स्वार्थों के टकराव के बावजूद साम्राज्यवादियों में साँठ-गाँठ का पहलू ही प्रधान है। साम्राज्यवादी समूह के सभी देश आज विश्व पूँजीवादी व्यवस्था में अपनी लूट का दायरा और मुनाफे की मात्रा बढ़ाने के लिए ऐड़ी-चोटी का पसीना एक कर रहे हैं। इन कोशिशों के रूप में नयी घेरेबंदी और मोर्चेबंदी भी जारी है, मगर वे आपसी टकराव को भरसक टालते हुए साँठ-गाँठ और सुलह-समझौते को ही प्रधानता दे रहे हैं। लेकिन लुटेरे साम्राज्यवादियों के बीच मेल-जोल अस्थायी होता है। उनके बीच कलह और अन्तरविरोध ही स्थायी होता है। देखना यह है कि ये अन्तरविरोध सतह पर कब उभरते हैं। □

बी.एम.डब्ल्यू. केस का फैसला

5 सितम्बर को बहुचर्चित बी.एम.डब्ल्यू. काण्ड मामले में दिल्ली की निचली अदालत ने मुजरिम संजीव नन्दा को 5 वर्ष की सजा सुनाई। 10 जनवरी 1999 की सुबह लोधी रोड इलाके में नशे में धुत इस रईसजादे ने सात लोगों को तेज रफ्तार गाड़ी से रौंदकर 6 लोगों की जान ले ली थी। मरने वालों में तीन पुलिसकर्मी भी शामिल थे। घटना के शिकार कुछ लोग गाड़ी के नीचे कुचले पड़े थे, लेकिन उन्हें अस्पताल पहुँचाने के बजाय मुजरिम अपनी गाड़ी मोड़कर भागने लगा, जिससे गाड़ी के नीचे फँसे लोग कुचले गये और उनके बचने की उम्मीद खत्म हो गयी।

सेना के रिटायर आला अफसर के पोते और हथियारों के धनाढ्य सौदागर के बेटे संजीव नन्दा को 5 साल की सजा सुनाने में सबसे निचली अदालत को 9 साल लग गये। इस बिगडैल रईसजादे को 6 लोगों की हत्या का दोषी करार देने के बजाय इसे केवल गैर-इरादतन हत्या माना गया। इस केस में पैसे के बूते न्याय प्रक्रिया में तोड़-मरोड़ करने के एक से बढ़कर एक उदाहरण सामने आए। नन्दा ने लाखों रुपयों का लालच देकर पीड़ित परिवारों का मुँह बन्द करने और अदालत से बाहर केस निबटाने का प्रयास किया। उसके वकील ने सारा बंदोबस्त कर लिया था। लेकिन अदालत ने इस पर सहमति नहीं दी। इसके बाद न केवल गवाह तोड़े गये बल्कि सरकारी वकील को खरीद लिया गया। इस घटना का एक न्यूज चैनल ने पर्दाफाश किया जिसमें नन्दा परिवार के इशारे पर संजीव नन्दा के वकील आर. के. आनन्द और सरकारी वकील आई. यू. खान को हाथ मिलाते दिखाया गया। दोनों वकीलों ने इस रईसजादे को बचाने के लिए घटना के एकमात्र गवाह सुनील कुलकर्णी को तोड़ने का प्रयास किया। इस घटना के बाद सर्वोच्च न्यायालय ने इसे न्यायिक प्रक्रिया के पतन का प्रमाण बताते हुए दोनों वकीलों के खिलाफ अनुशासनात्मक कार्रवाई की।

चूँकि निचली अदालत ने नन्दा को सजा सुना दी इसलिए नन्दा ने हाई कोर्ट में अपील दायर की है। अब बचे गवाह को खरीदने का काम फिर से शुरू होगा तथा बढ़िया और महँगे वकील रखे जायेंगे। संक्षेप में, यदि पैसा है तो इसी न्यायिक व्यवस्था में बचने के कई रास्ते हैं और अक्सर रईसजादे इसी पैसे की ताकत के बल पर बच भी जाते हैं।

रईसजादों द्वारा तेज रफ्तार गाड़ी से लोगों को कुचलकर मार देने की घटनाएँ बढ़ती जा रही हैं। नन्दा को सजा सुनाये जाने के कुछ ही दिनों बाद राजधानी के मूलचन्द फ्लाइओवर पर हरियाणा के एक पूँजीपति के बेटे उत्सव भसीन ने दो मोटरसाइकिल सवारों को टक्कर मार दी जिसमें एक की मौत हो गयी। एलिप्टर परेरा ने भी इसी प्रकार मुम्बई में सात लोगों को तेज रफ्तार गाड़ी से रौंदा और फरार हो गया था। रईसजादों द्वारा अपने दौलत के नशे में लोगों को कुचलकर मार डालने के ऐसे कितने ही उदाहरण मिलते हैं।

एक तरफ तो मीडिया इस बात को बढ़ा-चढ़ा कर कह रही है कि कोई भी आदमी कितना भी ताकतवर व प्रभावशाली क्यों न हो वह कानून से ऊपर नहीं है। दूसरी तरफ कुछ अखबार वालों का यह भी कहना था कि भारत में हर साल 1 लाख मौत ड्राइवर द्वारा नशे में धुत होकर लापरवाही से गाड़ी चलाने के कारण होती हैं। नन्दा वाले मामले में मीडिया ने ज्यादा ही नाक खुसेड़ी जिसके कारण न्यायालय दबाव में आ गया और नन्दा को ज्यादा कठोर सजा सुना दी जबकि सड़क दुर्घटना के ऐसे कितने ही मामलों में ड्राइवरों को सजा नहीं होती। नन्दा के बचाव में मीडिया की यह टिप्पणी अभिजात वर्ग के प्रति उनकी नंगी तरफदारी को दर्शाती है। गवाहों को तोड़ने, पीड़ित परिवारों को पैसे देकर मामले को रफा-दफा करने की कोशिश, सबूतों को मिटाने और न्याय प्रक्रिया को अपने पक्ष में मोड़ने के बाद जो सजा सुनाई गयी वह अपने आप में नाकाफी है। नन्दा द्वारा किये गये ये सब काम दर्शाते हैं कि उसे कम से कम लापरवाह और निर्दोष तो समझा नहीं जा सकता। नन्दा द्वारा की गयी हत्याओं को गैर इरादतन हत्या नहीं कहा जा सकता। घटना के बाद उसके वहाँ से भाग जाने और घायलों की मदद न करने के कारण उसे गैर इरादतन हत्या का लाभ नहीं मिलना चाहिए था। लॉ कमीशन ने भी सिफारिश की है कि खतरनाक और लापरवाही से गाड़ी चलाने के लिए सजा पाँच साल की जाये और टक्कर मारकर भागने की सजा सात साल की जाये जो कि पीड़ितों के साथ सही न्याय होगा। □

पद्मश्री से विभूषित घपलेबाज

मध्य प्रदेश पुलिस ने जमीन घोटाले में इन्दौर के कई जाने माने लोगों पर धोखाधड़ी का मुकदमा दर्ज किया है। आरोपियों में पद्मश्री से विभूषित समाजसेवी बाबूलाल पटौदी भी शामिल हैं। इन लोगों पर फर्जी दस्तावेजों के इस्तेमाल और अधिकारियों की मिलीभगत से प्रदेश सरकार को चूना लगाने का आरोप है। देवी अहिल्या न्यूक्लॉथ मार्केट कम्पनी के प्रबन्ध संचालक को प्रदेश सरकार ने कोई दस साल पहले इन्दौर जिले के ग्राम तेजपुर में 46.30 एकड़ जमीन प्रदान की थी। नगर भूमि सीमा अधिनियम 1976 की धारा 20 (1) के तहत कम्पनी को काफी छूट दी गयी थी। छूट का आधार यह था कि कम्पनी उस जमीन के 15 एकड़ रकबे में बगीचा विकसित करेगी जिसका व्यावसायिक उपयोग नहीं किया जायेगा और वह आम जन के लिए खुला रहेगा। कम्पनी को वहाँ 2300 पेड़ लगाने को भी कहा गया था। लेकिन पद्मश्री पटौदी सरकारी अधिकारियों की मिलीभगत और फर्जी दस्तावेजों के आधार पर इन शर्तों का उल्लंघन और धोखाधड़ी में लिप्त हो गये। पद्मश्री की उपाधि और करोड़ों का तोहफा पाकर भी इनका समाजसेवी चित्त शान्त नहीं हुआ। □

दुनिया भर में सैनिक-खर्च बढ़ा

एक तरफ साम्राज्यवादी वैश्वीकरण के जरिये सारी दुनिया की अर्थव्यवस्था को एक ही अन्तरराष्ट्रीय नियम-कायदों की छतरी के नीचे लाकर लूटने की योजना चल रही है, तो दूसरी तरफ सैनिक खर्च बढ़ाकर सभी ताकतवर देश अत्याधुनिक सैन्य क्षमता विकसित कर लेने की होड़ में लगे हुए हैं। स्टॉक होम के इण्टरनेशनल पीस रिसर्च इंस्टिट्यूट ने जून 2008 में यह खुलासा किया कि पिछले 10 सालों के दौरान दुनिया का सैनिक-खर्च 45 प्रतिशत बढ़ा है। आज पूरी दुनिया में जितना सैनिक-खर्च होता है उसका आधा अकेले अमरीका खर्च करता है।

2007 में हथियार और अन्य सैन्य खर्च के मद में 1,339 अरब डालर खर्च किया गया जो पूरी दुनिया के कुल सकल घरेलू उत्पाद (जी.डी.पी.) का 2.5 प्रतिशत बैठता है। यह खर्चा यदि दुनियाभर की 6.6 अरब जनसंख्या पर बराबर-बराबर बाँट दें तो प्रतिव्यक्ति 202 डालर बैठेगा, जबकि कई देशों की प्रतिव्यक्ति आय इससे काफी कम है। इस पूरे खर्च में अमरीका का हिस्सा 547 अरब डालर है जो सबसे ज्यादा है। उसके बाद क्रमशः ब्रिटेन, चीन, फ्रांस और जापान का नम्बर आता है, जिनका कुल खर्च में हिस्सा केवल 4 से 5 प्रतिशत के बीच है।

1990 से 2007 के बीच पूर्वी यूरोप का सैनिक-खर्च 162 प्रतिशत बढ़ा है। उत्तरी अमरीका में 11 सितम्बर की घटना के बाद सैनिक खर्च 65 प्रतिशत बढ़ा, जिसका 59 प्रतिशत अकेले अमरीका का हिस्सा था। 2007 में अमरीका ने सैनिक-खर्च में जितनी बढ़ोत्तरी की, वह दूसरे विश्वयुद्ध के बाद सबसे अधिक बढ़ोत्तरी थी। पिछले दशक में सैनिक-खर्च में पश्चिम एशिया में 51 प्रतिशत, दक्षिण एशिया में 51 प्रतिशत, सेप्टल अमरीका में 19 प्रतिशत और पश्चिमी यूरोप में 6 प्रतिशत की बढ़ोत्तरी की गयी। चीन का सैनिक खर्च पिछले तीन सालों में तीन गुना हो गया है।

आखिर इस तरह बेहताशा सैनिक-खर्च और हथियारों का जखीरा बढ़ाने के पीछे कारण क्या है? साम्राज्यवाद के सामने कोई सीधी चुनौती नहीं दिखाई देती, कहीं संगठित और व्यापक जनप्रतिरोध नहीं है, फिर भी वह इतना भयाक्रान्त क्यों है? दरअसल अमरीका जिस नयी विश्व व्यवस्था का सरगना है उसमें मेहनत की लूट का प्रवाह मुनाफे के रूप में नीचे से ऊपर की ओर जाता है। जो देश इस व्यवस्था के जिस पायदान पर खड़े हैं उन्हें उसी के अनुरूप लूट के माल में हिस्सा मिलता है। अमरीका और अन्य साम्राज्यवादी देश अपनी इस हैसियत को बनाये रखना चाहते हैं। लूट का कारोबार भले ही आर्थिक हैसियत पूँजी और तकनीक से तय होता हो, लेकिन साम्राज्यवादी

मन्सूबे को बेरोक-टोक आगे बढ़ाने के लिए सैनिक क्षमता भी जरूरी है। साम्राज्यवादी गिरोह का सरगना बने रहने के लिए जरूरी है कि अमरीका की सैनिक ताकत दूसरे देशों से काफी अधिक हो। इसीलिए वह अपनी आर्थिक क्षमता के साथ-साथ सैनिक क्षमता भी पहले नम्बर पर रखना चाहता है।

'90 के बाद की दुनिया में कुछ देशों की अर्थव्यवस्था तेजी से विकसित हुई जिससे एक नया शक्ति सन्तुलन उभरने लगा है। साम्राज्यवादी देशों की बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ अकूत मुनाफा बटोरने के लालच में बड़े पैमाने पर बेकारी और कंगाली के साम्राज्य का विस्तार कर रही हैं। यही कारण है कि कहीं भी अचानक स्वतःस्फूर्त दंगे भड़क उठते हैं और बेकाबू हो जाते हैं। इनसे निपटने के लिए हर देश अपनी सैनिक क्षमता पर भरोसा करता है। बेहिसाब साम्राज्यवादी लूट और मुनाफाखोरी आज दुनियाभर में गरीबी और अमीरी के बीच गहरी और चौड़ी खाई तैयार कर रही है। इसके चलते विकास की परिधि के बाहर पड़े लोगों में जो असंतोष और गुस्सा सुलग रहा है वह किसी क्रान्तिकारी जन उभार न होने की स्थिति में आतंकवादी कार्रवाइयों में फूट रहा है। पूँजीवादी साम्राज्यवादी पापों का नतीजा होने के बावजूद आतंकवाद से भी अन्ततः साम्राज्यवादियों को ही फायदा मिल रहा है। उन देशों की हथियार-निर्माता कम्पनियाँ आतंकवादियों और सरकारों दोनों को ही हथियार बेचकर अपार मुनाफा बटोर रही हैं। दुनियाभर में हथियार बनाने वाली 100 बड़ी कम्पनियों की बिक्री 2006 में 315 अरब डालर थी जो पिछले वर्ष की तुलना में 6 प्रतिशत अधिक थी। इन कम्पनियों में 63 अमरीका और पश्चिमी यूरोप की हैं, जिनका कुछ बिक्री में हिस्सा 292 अरब डालर यानी 93 प्रतिशत था।

आज जिस तरह विभिन्न देशों के शासकवर्ग अपनी जनता से कट चुके हैं और जनशत्रु बन गये हैं, उसी तरह साम्राज्यवादी देशों ने भी अपने अनगिनत दुश्मन पैदा कर लिये हैं। इसके चलते भी दुनियाभर में सैनिक-खर्च लगातार बढ़ता जा रहा है। हथियारबन्द झड़पें, बहुपक्षीय शान्ति अभियान तथा कच्चे माल और प्राकृतिक स्रोतों पर कब्जेदारी के लिए भी सैनिक-खर्च बढ़ाये जा रहे हैं। 2005 की तरह 2006 में भी दुनियाभर में 14 हथियारबन्द लड़ाइयाँ हुईं। डार्फर (सूडान), अफगानिस्तान और इराक में लोग या तो आपस में लड़ रहे हैं, या साम्राज्यवादियों द्वारा लड़ाये जा रहे हैं। ऐसी स्थिति में हथियारों और सैन्य खर्च में बढ़ोत्तरी का बहाना मिल जाता है। कुल मिलाकर इसके पीछे यह लुटेरी साम्राज्यवादी विश्वव्यवस्था है जो विश्व शान्ति की दुश्मन है। □

जमीन-अधिग्रहण

किसान बेहाल, पूँजीपति मालामाल

□ रूपेश

गौतमबुद्ध नगर (नोएडा) दिल्ली से लगा हुआ उत्तर प्रदेश का एक छोटा-सा जिला है। यहाँ की जमीन साल-भर में तीन फसलें देती है। 40 फीसदी हिस्से में नहरों द्वारा और शेष 60 फीसदी हिस्से में नलकूप द्वारा सिंचाई होती है। गेहूँ, धान, सब्जी, गन्ना और ज्वार यहाँ की मुख्य फसलें हैं। साथ ही यहाँ के किसान बड़े पैमाने पर पशुपालन और दूध उत्पादन भी करते हैं। पशुओं के चारे की पूर्ति के लिए ज्वार उगायी जाती है। पिछले 800 वर्षों से यहाँ के किसान खेती का काम करते आये हैं। पहले यहाँ का अधिकतर इलाका या तो बंजर था या बाढ़ग्रस्त था। किसानों के पूर्वजों ने पीढ़ी-दर-पीढ़ी कठिन परिश्रम करके जमीन को उपजाऊ बनाया। बुरे-से-बुरे समय में, भूखे पेट रह कर भी वे अपनी जीविका के साधन, इस जमीन को बचाये रखे। इस इलाके की 45 फीसदी आबादी खेतिहर मजदूर के रूप में खेती से ही अपना गुजारा चलाती है।

उत्तर प्रदेश के अधिकांश जिलों में एक भी विकास प्राधिकरण नहीं है और हजारों एकड़ जमीन बंजर या खाली पड़ी है। इसके विपरीत गौतमबुद्ध नगर जिला छोटा होने के बावजूद यहाँ पर पाँच विकास प्राधिकरण हैं नवीन ओखला औद्योगिक विकास प्राधिकरण (नोएडा), ग्रेटर नोएडा औद्योगिक विकास प्राधिकरण, ग्रेटर नोएडा फेज-2 औद्योगिक विकास प्राधिकरण, यमुना एक्सप्रेस-वे विकास प्राधिकरण और बुलन्दशहर विकास प्राधिकरण। गौतमबुद्ध नगर के लगभग हर गाँव की जमीन किसी-न-किसी विकास प्राधिकरण के नोटिफाइड एरिया के अन्तर्गत आती है।

सरकार का दावा है कि वह गौतमबुद्ध नगर में विकास करना चाहती है और विश्वस्तरीय जीवनशैली वाले नगर बसाना चाहती है।

नोएडा की स्थापना 1971 में और ग्रेटर नोएडा की स्थापना 1991 में की गयी थी। इन प्राधिकरणों को औद्योगिक विकास अधिनियम के अन्तर्गत बनाया गया था और कहा गया था कि इस इलाके में दिल्ली के ओखला औद्योगिक क्षेत्र की तरह औद्योगिक विकास किया जायेगा। आज ग्रेटर नोएडा को देखें तो लगता है कि 21वीं सदी का चमचमाता शहर आकार ले रहा है यहाँ पर गोल्फकोर्स, चौड़ी सड़कें, बड़े पार्क, ग्रीन बेल्ट, परीचौक, गगनचुम्बी इमारतें, अन्तर राष्ट्रीय स्तर के शैक्षिक संस्थान सभी कुछ मौजूद है। पिछले दस वर्षों में ग्रेटर नोएडा

औद्योगिक विकास प्राधिकरण ने अपने घोषित लक्ष्य औद्योगिक विकास के बजाय आवासीय, व्यावसायिक और सांस्थानिक सेक्टर बनाने में अधिक दिलचस्पी दिखाई है।

पिछले 38 वर्षों में नोएडा के ज्यादातर गाँवों की जमीनों का अधिग्रहण किया जा चुका है। नोएडा के लगभग सभी किसान भूमिहीन और बेरोजगार हो चुके हैं। किसानों के गाँव झोपड़पट्टियों में तब्दील कर दिये गये हैं। खेती और दूध-उत्पादन का काम चौपट हो चुका है।

इतना होने के बावजूद भी ऊपर से सभी कुछ ठीक लग रहा था। किसानों की अन्दरूनी हालत क्या है, इस पर किसी का ध्यान नहीं गया था। किसान भी अपनी दुर्दशा चुपचाप सहते आ रहे थे।

जब से पूरे देश में सेज के नाम पर किसानों की जमीनें की छिनी जा रही हैं, देश के कई हिस्सों में किसानों के बड़े-बड़े आन्दोलन हुए हैं। सिंगूर और नन्दीग्राम के किसान संघर्ष तो खासे बड़े संघर्ष रहे हैं इन आन्दोलनों के प्रभाव में नोएडा के किसानों में भी थोड़ी जागरूकता आई है।

दिल्ली के पास होने की वजह से नोएडा की जमीनों के भाव आसमान छू रहे हैं लेकिन विकास प्राधिकरणों को तो पुरानी आदत के अनुसार कम पैसे में जमीन लेनी है। इसके लिए अंग्रजों का बनाया हुआ 1894 का भूमि अधिग्रहण कानून मौजूद है ही, जिसका इस्तेमाल किसानों की जमीन का जबरदस्ती अधिग्रहण करने के लिए हर बार किया जाता है।

हाल ही में इस इलाके में हुए बादलपुर और घोड़ीबछेड़ा गाँवों के आन्दोलन चर्चा में रहे और जमीन अधिग्रहण का सवाल एक बार फिर बहस का मुद्दा बना। लगभग सभी पार्टियों के नेताओं ने इन आन्दोलनों में अपनी-अपनी रोटी सेंकने की कोशिशें की। यह अलग बात है कि सभी पार्टियाँ अपने-अपने राज्यों में विशेष आर्थिक क्षेत्र सेज के नाम पर जमीन हड़प रही हैं और विरोध करने पर किसानों के साथ वही सलूक कर रही हैं जो यहाँ उत्तर प्रदेश की सरकार ने किया है।

इन बातों के मद्देनजर कई सवाल उभरते हैं क्या किसान विकास-विरोधी हैं? सरकार अचानक औद्योगिककरण के प्रति क्यों गम्भीर हो गयी है और उसे जमीन की कमी पड़ने लगी है? क्या जिन किसानों की जमीनें छिनी जा रही हैं उन्हें इस विकास का हिस्सा बनाया जा रहा है? इन सवालों पर गौर करना जरूरी

है। इसके लिए बादलपुर में किये गये जमीन अधिग्रहण का उदाहरण काफी है, जो कमोबेश पूरे गौतमबुद्ध नगर जिले पर लागू होता है।

बादलपुर गाँव मुख्यमन्त्री मायावती का पैतृक स्थान भी है। इसी नाते बहनजी बादलपुर में 50 बीघा यानी 10 एकड़ से भी ज्यादा जमीन पर महलनुमा कोठी और स्मारक बनवा रही हैं। कोठी के आसपास सुन्दरीकरण के लिए पार्क बनाने की योजना है। यह पार्क 500 एकड़ से अधिक जमीन पर बनेगा। इसी को ध्यान में रखकर बादलपुर, सादोपुर, अच्छेजा व विशनूली की 1,500 एकड़ जमीन का जबरन अधिग्रहण किया जा रहा है। अधिग्रहण का बड़े स्तर पर विरोध न हो, इसलिए अलग-अलग गाँवों की जमीनों का एक-एक करके अधिग्रहण किया जा रहा है। चारो गाँव जी.टी. रोड पर स्थित हैं जिसके चलते सड़क से लगी जमीन का बाजार भाव 20,000 रुपये प्रतिवर्ग मीटर है। अन्दर की जमीन का भाव 10,000 रु. वर्ग मीटर है। चारो गाँवों की कुल आबादी 16,000 है।

मायावती की कोठी के सुन्दरीकरण के लिए इन 16,000 लोगों की रोजी-रोटी दाँव पर लगी है। अकेले बादलपुर में 1,028 किसानों की जमीन छीनी जा रही है और लगभग इतने ही भूमिहीन किसानों और खेत-मजदूरों की जीविका खत्म की जा रही है।

प्राधिकरण द्वारा इन बेशकीमती जमीनों का मूल्य हास्यास्पद तरीके से मात्र 850 रुपये प्रति वर्ग मीटर लगाया गया है। इन गावों में प्रति व्यक्ति 200 वर्गमीटर से भी कम जमीन है जो मुश्किल से गाँव की नयी पीढ़ी के बसने-भर के लिए पर्याप्त है। इसीलिए किसान इस जबरन अधिग्रहण का विरोध कर रहे थे। किसानों का कहना है कि हम बिना किसी लोकहित के अपनी जमीन नहीं देंगे। लेकिन सरकार ने गाँव के लोगों द्वारा 29 जून को की जा रही शान्तिपूर्ण सभा पर लाठीचार्ज कर दिया व धारा 144 लगाकर 1,500 से अधिक महिलाओं, बच्चों व पुरुषों को गिरफ्तार कर लिया। इस गिरफ्तारी के बारे में अपने चाटुकारों की सलाह पर मुख्यमन्त्री मायावती ने निर्लज्ज बयान दिया कि गिरफ्तार लोग भाड़े पर लाये गये थे और वे किसान नहीं थे। बात यहीं तक होती तो भी गनीमत थी। सरकार ने पुलिस और पी.ए.सी के 500 से अधिक जवान गाँव की बैरिकेडिंग के लिए और बहनजी की निर्माणाधीन कोठी की सुरक्षा के लिए लगा दिये।

आन्दोलन का नेतृत्व कर रहे किसानों पर झूठे मुकदमों लादे गये हैं। आन्दोलन के दौरान उन्हें नजरबन्द रखा गया। राजनैतिक पार्टियों के किसी भी नेता को गाँव में आने नहीं दिया गया। यहाँ तक कि किसानों को अपने ही गाँव में सामान्य बैठक तक नहीं करने दी गयी।

अधिग्रहित होने वाले अन्य गाँवों के हालात भी बादलपुर की तरह ही हैं। सरकार यहाँ की सारी जमीन हड़प लेना चाहती

है। इस साल सिर्फ ग्रेटर नोएडा फेज-2 प्राधिकरण द्वारा 8,460 एकड़ जमीन के अधिग्रहण का लक्ष्य रखा गया है।

अधिग्रहण के समय प्रोजेक्ट पर किसानों से कोई सलाह नहीं ली जाती है। जमीन के अधिग्रहण का किसानों पर क्या असर होगा, इसके लिए जरूरी सामाजिक प्रभाव सर्वे नहीं किया जाता। किसानों और भूमिहीन खेतिहर मजदूरों के रोजगार और पुनर्वास की कोई व्यवस्था नहीं की जाती। इसके अलावा जमीन का बाजार मूल्य प्राप्त करने के हक से किसानों को वंचित किया गया है। अचानक अधिग्रहण के कारण किसानों की जीविका छिन गयी है। उन्हें समझ में नहीं आता कि वे क्या करें। किसान ठगे से रह गये हैं।

यहाँ पर अधिकांश किसान सीमान्त किसान हैं। दिल्ली के नजदीक होने के कारण जमीन के भाव आसमान छू रहे हैं। जमीन को बेचने पर किसान मोटी रकम प्राप्त कर सकते हैं लेकिन तब सरकार और पूँजीपति उस भारी कमाई से वंचित हो जायेंगे।

हाल ही में किसानों के 5 एकड़ जमीन का अधिग्रहण 485 रुपये प्रति वर्ग मीटर की दर पर नोएडा प्राधिकरण द्वारा किया गया और उसी जमीन को, विकसित किये बिना ही 1 लाख 31 हजार रुपये प्रति वर्ग मीटर की दर से नीलाम कर दिया गया। एक भी फूटी कौड़ी का निवेश किये बिना ही 180 गुणा का फायदा! है न कमाल का धन्धा! जाहिर है कि सरकार ने बिचौलियों, दलालों, प्रापटी डीलरों और भू-माफियाओं को भी काफी पीछे छोड़ दिया है। सरकार ने जमीन की बन्दरबाँट और पूँजीपतियों के भले के लिए ही यहाँ पर पाँच प्राधिकरण स्थापित किये हैं। प्रदेश के भीतरी इलाकों में, जहाँ विकास की जरूरत कहीं अधिक है, सरकार ने क्यों कुछ नहीं किया। विकास और खेती के प्रति सरकार गम्भीर होती तो बंजर जमीन पर औद्योगिक और आवासीय सेक्टर विकसित करने की योजना बनाती। लेकिन सच्चाई हमारे सामने है, बस थोड़ा ध्यान देने की जरूरत है।

गौतमबुद्ध नगर में 17 गाँव उप्पल चड़ड़ा ग्रुप व 11 गाँव अंसल ग्रुप को आर्बिट्रि किये गये हैं। दोनों ने कागज पर नक्शा बनाकर एक पैसा भी खर्च किये बिना 200 गुणा मुनाफा पर ये जमीनें बेच दी हैं। जे.पी. ग्रुप को ग्रेटर नोएडा से आगरा के बीच एक्सप्रेस हाई-वे का ठेका दिया गया है। साथ में एक्सप्रेस-वे के दोनों तरफ 1 कि.मी. तक की जमीन भी जे.पी. ग्रुप को दी गयी है। इस बात का पूरा ध्यान रखा गया है कि योजना का लाभ सड़क बनाने वाले को मिले, न कि किसानों को। एक्सप्रेस-वे बनाने में कोई परेशानी न आये इसके लिए यमुना एक्सप्रेस-वे प्राधिकरण का गठन किया गया है, जिसका काम है किसानों की जमीन हड़प कर जे.पी. ग्रुप को सौंपना। जे.पी. इसी जमीन को 100 गुने ज्यादा दाम पर बेच सकेगा।

हमें यह गलतफहमी नहीं होनी चाहिए कि इस एक्सप्रेस-वे का फायदा सभी को होगा या यह कोई लोकहित का कार्य है। इस सड़क पर 160 कि.मी. की स्पीड से कम पर वाहन नहीं चलेंगे। इस पर घोड़ा-ताँगा, बुग्गी, ट्रैक्टर, साइकिल आदि चलाना प्रतिबन्धित होगा। मतलब साफ ही है कि एक्सप्रेस-वे सिर्फ अमीरों के लिए होगा।

जे.पी. को रातोंरात अरबपति से खरबपति बना दिया गया है, वह भी किसानों की कीमत पर रोजगार, घर, जमीन जो भी एक्सप्रेस-वे के बीच में आयेगा सब निगल लिया जायेगा। कंगालीकरण का एक और अभियान! और इस अभियान में मदद करेगा अंग्रेजी राज का जमीन अधिग्रहण कानून।

क्या यह कानून बदला नहीं जा सकता? क्या किसानों को अपनी मर्जी से जमीन देने या न देने का हक नहीं है? क्या आधुनिक विकास में किसानों को हिस्सेदार नहीं बनाना चाहिए? इन सभी सवालों के जवाब हाँ में होते यदि सरकार जनता के हित में सोचती, न कि पूँजीपतियों के। यदि ऐसा होता तो घोड़ीबछेड़ा के पाँच किसान पुलिस की गोली खाकर अपनी जान से हाथ न धोते। जमीन अधिग्रहण में इतना मुनाफा है कि सरकार, अफसर और पूँजीपति किसानों को हिस्सेदार नहीं बनाना चाहते। एक साल से जमीन अधिग्रहण संशोधन बिल 2007 लोकसभा में लम्बित है लेकिन बिल को पारित कराने में सरकार की दिलचस्पी नहीं है क्योंकि प्रस्तावित बिल सरकार के अधिकारों में कटौती करती है और किसानों की जमीन पर हकदारी देती है।

बाजार अर्थव्यवस्था में मेहनतकशों की कीमत पर ही सारी मुनाफाखोरी होती है। पहले किसानों की फसल पर ही मुनाफाखोरी होती थी। अब, जबकि बड़े शहरों के नजदीक जमीनों की कीमत आसमान छू रही है तो इन जमीनों को पूँजीपति हड़प लेना चाहते हैं। सरकारें किसानों पर लाठी-गोली चलाकर, उनका दमन करके, किसी की कीमत पर उनकी जमीन छीनकर पूँजीपतियों को सौंप रही हैं। मानेसर (हरियाणा) में एक करोड़ रुपये प्रति बीघा की जमीन पाँच लाख रुपये प्रतिबीघा में छीनकर मुकेश अम्बानी को दी जा रही है। अम्बानी, टाटा, मित्तल, बिरला, वाडिया, अंसल इत्यादि लगभग सभी बड़े पूँजीपतियों की नजर बड़े शहरों के आसपास की जमीनों पर लगी है।

किसान असहाय हैं। उन्हें समझ में नहीं आ रहा है कि वे क्या करें। कहीं-कहीं स्थानीय स्तर पर संघर्ष भी किया तो मुआवजे में थोड़ी बढ़ोत्तरी तक ही उनकी माँग सीमित रही। इसमें कुछ कामयाबी भी मिली। लेकिन असली सवाल तो किसानों को अपनी जमीन पर पूरा हक और विकास में उनकी हिस्सेदारी का है। उचित तो यह है कि दो-फसली और तीन-फसली जमीन खेती के लिए आरक्षित की जाये तथा बंजर और खाली

पड़ी जमीन पर ही कारखाने लगाये जायें। लेकिन जमीन की इस लूट में जब पूरी व्यवस्था और इसकी मशीनरी लगी हो तो अलग-अलग इलाकों के किसान इन छिटपुट संघर्षों से क्या अपना हक हासिल कर पायेंगे? चरमस्वार्थी और सत्तामद में चूर इन पूँजीपतियों और उनकी चाकरी करने वाले नेताओं-अधिकारियों के खिलाफ एक देशव्यापी जनआन्दोलन ही किसानों को न्याय दिला सकता है। □

वित्तमन्त्री के घड़ियाली आँसू

राष्ट्रीय विकास परिषद की बैठक में वित्तमन्त्री पी. चिदम्बरम् ने स्वीकार किया कि देश की सार्वजनिक वितरण प्रणाली ध्वस्त हो चुकी है। एक अध्ययन के अनुसार गरीबों तक एक रुपया पहुँचाने के लिए सरकार को 3 रुपये 65 पैसे खर्च करना पड़ रहा है। “58 प्रतिशत सब्सिडीयुक्त अनाज उन लोगों तक नहीं पहुँच पाता और 36 प्रतिशत आपूर्ति शृंखला से निकाल लिया जाता है। हम हाथ पर हाथ धरे गरीबों को मिलने वाली इस थोड़ी-सी राशि को लुटते हुए कैसे देखते रह सकते हैं?”

इस तरह की स्वीकारोक्ति करने वाले चिदम्बरम् कोई पहले नेता नहीं हैं। कभी राजीव गाँधी ने भी स्वीकार किया था कि प्रत्येक 1 रुपया पर केवल 15 पैसे ही गरीबों तक पहुँच पाता है। गौर करने की बात यह है कि इसके खिलाफ उन्होंने किया क्या? देश की जनता को क्या मिलता है यह जानने के लिए जनता मन्त्रियों के खोखले बयानों की मुहताज नहीं है। बल्कि वह तो यह भी जानती हैं कि उसके धन को कौन लोग लूटकर खा रहे हैं।

दरअसल चिदम्बरम् खुद उस लुटेरे गिरोह के साथ हैं इसलिए लूटने वालों का नाम बताने या उनपर कोई कार्रवाई करने का साहस उनमें नहीं है। यही बात उनकी पार्टी और इस शासनव्यवस्था पर भी लागू होती है। उनकी पार्टी इन्हीं लुटेरों की सेवा करती है और यह शासन व्यवस्था इन्हीं लुटेरों के हित में काम करती है।

चिदम्बरम् की यह स्वीकारोक्ति और गरीबों की लूट पर उनका यह विलाप घड़ियाली आँसू से ज्यादा क्या मायने रखता है?

यह भी सम्भव है कि ‘गरीबों’ तक सरकारी सहायता न पहुँच पाने को आधार बनाकर सार्वजनिक वितरण प्रणाली के रहे-सहे ढाँचे को भी सरकार समाप्त कर दे। ‘किसानों को दी जाने वाली सब्सिडी का लाभ गरीब किसानों को नहीं मिलता, इसलिए सब्सिडी देना बेकार है, उच्च शिक्षा तक गरीबों की संतान नहीं पहुँच पाती, इसलिए उसकी फीस बढ़ा दो, ऐसे बहाने करके हमारे देश के रहनुमा पहले भी हमसे सरकारी सहायता छीन चुके हैं। □

ढोंगी बाबाओं का माया लोक

□ पारिजात

सन्त आसाराम बापू द्वारा संचालित दो गुरुकुलों में महीनेभर के अन्दर चार बच्चों की मौत हुई। पहली घटना चार जुलाई की है जिस दिन अहमदाबाद के गुरुकुल से दो बच्चे दीपेश और अभिषेक अचानक गायब हो गये। छह जुलाई को उनकी लाशें आश्रम के पीछे बहने वाली साबरमती नदी के किनारे मिलीं। दूसरी घटना छिन्दवाड़ा (मध्य प्रदेश) स्थित गुरुकुल की है जहाँ 29 जुलाई को रामकृष्ण यादव और 31 जुलाई को वेदान्त एक ही तरह से गुरुकुल के बाथरूम में मृत अवस्था में मिले। एक महीने के अन्दर चार बच्चों की मौत ने आसाराम बापू के गुरुकुल पर कई सवाल खड़े कर दिये।

सरकार की तरफ से निष्पक्ष जाँच और उचित कार्रवाई का आश्वासन मिला। अखबार और टी.वी. चैनलों पर इन सनसनीखेज घटनाओं को जोर-शोर से प्रसारित किया गया। कुछ दिन बाद उनका शोर खत्म हो गया। निठारी काण्ड की तरह ये घटनाएँ भी समय की राख में दबकर ठण्डी पड़ जायेंगी लेकिन चिन्तनशील लोगों के आगे एक सवाल खड़ा हो गया है कि आज कुकुरमुत्ते की तरह पैदा हो रहे बाबापन्थ ने समाज को क्या दिया?

उन बच्चों के माँ-बाप ने आसाराम बापू के प्रवचनों से प्रभावित होकर भक्तिभाव से अपने बच्चों को गुरुकुल में भेजा था। क्या उन्हें उनके मासूम बच्चों की मौत का कारण नहीं पता चलना चाहिए? क्या उस धर्मोपदेशक को खुद ही इस सवाल का जवाब नहीं देना चाहिए कि उसके आश्रम में ये मौतें कैसे हुईं? बच्चों की मौत को आखिर इतना रहस्यमयी क्यों बना दिया गया?

धर्म की राह पर चलने और मोह-माया से मुक्त होने का उपदेश देने वाले सन्त आसाराम अपने लिए क्यों माया का संसार रचते जा रहे हैं। देश के कई शहरों में उनकी अकूत सम्पत्ति है। एक आकलन के मुताबिक उनकी कुल सम्पत्ति लगभग 25,000 करोड़ रुपये है।

अपने प्रवचनों में शान्ति और अहिंसा का पाठ पढ़ाने वाले इन गुरुओं के इशारे पर इनके अनुयायी कितनी ही बार हिंसा पर उतारू हुए। 18 जुलाई को उन लोगों ने अहमदाबाद में पत्रकारों की बेरहमी से पिटाई की। इस घटना

में घायल हुई एक महिला पत्रकार को गम्भीर हालत में अस्पताल में भर्ती कराना पड़ा। यह उन लोगों की कारगुजारी है जो अपने उपदेशों में औरतों को देवी कहकर पुकारते हैं।

बच्चों की मौत की खुली जाँच करवाने के बजाय पत्रकारों पर हमला और बच्चों के माँ-बाप को गुमराह करना क्या आसाराम बापू के ढोंग-पाखण्ड की पोल नहीं खोलता? आखिर आश्रमों के अन्दर चलने वाली गतिविधियों के लोगों के सामने आने से बापूजी इतने भयभीत क्यों हैं?

अहमदाबाद में बच्चों की मौत का विरोध करने वालों से आश्रम के कर्ताधर्ताओं ने कहा कि यहाँ के लोग भगवद्गीता के पुजारी हैं। ये लोग तो एक चींटी भी नहीं मारते, भला बच्चों को कैसे मार सकते हैं।

आसाराम बापू कहते हैं कि शान्त चित्त होने के लिए सात्विक भोजन आवश्यक है, मांसाहारी सदैव हिंसक होते हैं। अगर ऐसा ही है तो पत्रकारों पर हमला करते समय आसाराम बापू के शिष्यों को भगवद्गीता के उपदेशों ने शान्त चित्त क्यों नहीं रखा। प्रवचन और व्यवहार में दोहरेपन का इससे अच्छा उदाहरण भला क्या हो सकता है?

बच्चों की मौत का रहस्य अभी सुलझा भी नहीं था कि अगस्त के महीने में एक नया मामला सामने आ गया। पता चला कि आसाराम बापू ने फर्जी प्रमाण-पत्र बनवाकर कि उनका पूरा परिवार खेती-किसानी करता है, साबरकाँठा (गुजरात) में किसानों से उपजाऊ जमीन खरीद ली थी। आश्रम के नाम पर दो गाँवों में खरीदी गयी जमीनों के कागजात का वहाँ के दफ्तरों में कोई ब्यौरा नहीं है। क्या पता वहाँ के किसानों को मोह-माया से छुटकारा दिलाने के पवित्र उद्देश्य से बापूजी ने अपनी चमत्कारी शक्ति से ये कागजात तैयार किये हों।

कुछ साल पहले तक एक साधारण कथावाचक रहे आसाराम के पास आज 25,000 करोड़ रुपये की सम्पत्ति कहाँ से आ गयी? जाहिर है कि दूसरों को मोह-माया से मुक्ति दिलाने के व्यापार में आसाराम ने अपने लिए माया का एक विराट मोहक संसार रच लिया।

इन तथाकथित बाबाओं की हकीकत यह है कि ये बेहद

सांसारिक लोग हैं। आलीशान कोठी-बंगले, विदेशी गाड़ियाँ, हीरे जवाहरात, बैंक बैलेन्स, बड़े-बड़े प्लॉट और व्यवसायिक कारोबार। लेकिन सवाल यह है कि आज देश भर में प्रवचक बाबाओं को इतनी लोकप्रियता आखिर क्यों मिल रही है और उनके पास करोड़ों-अरबों की सम्पत्ति कहाँ से आ रही है?

प्रवचनों में जाने वाले अधिकांश लोग समाज के कष्टों से पीड़ित किन्तु खाते-पीते मध्यवर्गीय लोग होते हैं जो मोक्ष या परलोक की कामना से नहीं, बल्कि सांसारिक इच्छाओं नौकरी, व्यापार में तरक्की, परिवार में शान्ति, समृद्धि, रोजमर्रे के तनाव से मुक्ति इत्यादि की कामना लेकर उनकी शरण में जाते हैं। प्रवचनों के सुधापान से उनके मन को क्षणिक शान्ति मिलती है। ये बाबा उनको झूठी तसल्ली देते हैं और अपने प्रवचनों से कल्पनालोक में वह सब कुछ उपलब्ध कराते हैं जो उन्हें वास्तविक जिन्दगी में प्राप्त नहीं होता। समस्या के असली कारणों को समझाने और वास्तविक हल ढूँढ़ने के बजाय मन्त्र-जाप, योग-ध्यान और मोह-माया से छुटकारे की सलाह देकर उन्हें पलायन का रास्ता दिखाते हैं, विभ्रम में जीना सिखाते हैं। समाज में संकट जितनी तेजी से बढ़ रहा है, उतनी ही तेजी से प्रवचनों और मठों-डेरों में भीड़ बढ़ रही है और बाबाओं का कारोबार फल-फूल रहा है।

हमारी धर्मभीरुता के साथ-साथ धर्म के नाम पर जनता में फूट डालने वाले हिन्दू कट्टरपन्थी और उनकी पार्टियाँ भी इनको खूब बढ़ावा देती हैं। श्री श्री रविशंकर व बाबा रामदेव जैसे धार्मिक गुरु प्रधानमन्त्री पद का ख्वाब देखने वाले भाजपा नेता की आत्मकथा के विमोचन समारोह में शामिल थे और खुलकर उनकी तारीफ कर रहे थे।

लोगों के झूठे विश्वासों को उभार कर ये उन्हें भड़काते

हैं तथा खान-पान और रहन-सहन की विविधता और व्यक्तिगत पसन्द को भी साम्प्रदायिक रंग देकर अल्पसंख्यकों के खिलाफ घृणा का प्रचार करते हैं। यदि इनकी बातों को सही मान लिया जाय कि मांसाहारी क्रूर होते हैं, तो मुट्ठीभर लोगों को छोड़कर अधिकांश हिन्दुओं को भी क्रूर होना चाहिए था जो मांस-मछली खाते हैं, जब कि ऐसा नहीं है। दूसरी ओर दुनिया का सबसे बड़ा खूँखार तानाशाह हिटलर शुद्ध शाकाहारी था।

आसाराम बापू का यह प्रकरण अपने आप में अकेला नहीं है। ऐसे कितने ही बाबाओं के किस्से-कहानी आये दिन सुनने को मिलते हैं, जैसे एक शंकराचार्य के खिलाफ पटना में जमीन पर कब्जे को लेकर मुकदमा, बाबा रामदेव की दवाईयों में हड्डियों का चूरा मिलाने सम्बन्धी विवाद, चन्द्रा स्वामी जैसे तांत्रिकों के घपले, हत्या व बलात्कार के आरोप में डेरा सच्चा सौदा प्रमुख पर सी.बी.आई. जाँच और सिख समुदाय से उनका खूनी संघर्ष। यह सूची लगातार बढ़ती जा रही है।

वह जमाना और था जब धर्म प्रचारकों का जीवन त्याग-तपस्या का पर्याय होता था और वे लोगों में नैतिक मूल्य स्थापित करते थे। आज तो भागवत कथा वाचक अरबों-खरबों की सम्पत्ति जुटाने के लिए भ्रष्ट आचरण करते हैं और उँगली उठाने पर एक महिला पत्रकार की बेरहमी से पिटाई करते हैं। हद तो यह है कि बापू जी के बेटे पर एक महिला ने व्याभिचार का आरोप लगाया है। ऐसे ढोंगियों के बारे में गाँवों में एक कहानी प्रचलित है कुछ बच्चों ने मिलकर एक गधा मार दिया। उन बच्चों के माँ-बाप ने जाकर पण्डितजी को यह बात बतायी और इससे छुटकारा पाने का उपाय पूछा। पण्डित जी ने इसे घोर अनर्थ बताते हुए उन्हें पूजा-पाठ

स्वामी रामदेव के आश्रम में युवक की रहस्यमय मौत

7 सितम्बर को स्वामी रामदेव के योग ग्राम में एक युवक की रहस्यमय परिस्थितियों में मौत हो गयी।

तीस वर्षीय कन्हैया लाल बिहार के मधुबनी जिले के रहने वाले थे। उनकी दो साल पहले शादी हुई थी। उन्हें एक बेटी है। वे मुम्बई में एक प्राइवेट बीमा कम्पनी में शाखा प्रबन्धक थे और मधुमेह का इलाज कराने योग ग्राम आये थे। रविवार सुबह अचानक उनकी तबीयत खराब होने पर उन्हें रुड़की के सरकारी अस्पताल में लाया गया, जहाँ डॉक्टरों ने उन्हें मृत घोषित कर दिया।

योग ग्राम प्रशासन ने पहले इस खबर को दबाने का प्रयास किया। दिल्ली से रुड़की पहुँचे कन्हैया लाल के भाई सुमन

ने बताया कि रविवार तड़के आश्रम से फोन आया कि उनके भाई की तबीयत खराब है और वे अस्पताल में भर्ती हैं। उसके एक घण्टे बाद फिर से फोन आया कि उनके भाई की साँप के काटने से मौत हो गयी है। किसी तरह रुड़की के सरकारी अस्पताल पहुँचने पर उन्हें कन्हैया के शव के पास नहीं जाने दिया गया। स्वामी रामदेव के अस्पताल पहुँचने के बाद ही उन्हें शव दिखाया गया।

सुमन ने बताया कि शव देखने से कहीं से नहीं लग रहा था कि कन्हैया को साँप ने काटा है। उन्होंने कन्हैया की हत्या की आशंका जतायी है।

और सोना-चाँदी दान करने की सलाह दी, लेकिन जब गाँव वालों ने बताया कि उन लड़कों में पण्डितजी का बेटा सन्तोष भी शामिल था, तो वे सोच में पड़ गये और कहने लगे कि

*'दस पाँच बच्चे एक सन्तोष,
गधा मारे कुछ ना दोष।'*

इन बाबाओं के उपदेश दूसरों के लिए होते हैं। खुद के आचरण से उनका कोई लेना-देना नहीं होता। बाबाओं का कारोबार आज के समाज में आम आदमी की बढ़ती बदहाली पर फलफूल रहा है। अपनी दिनोदिन असह्य होती पीड़ा-व्यथा और अन्याय के खिलाफ असली संघर्ष और समाधान के अभाव में जनता इनका समाधान धर्म के सहारे ढूँढ़ने के लिए मजबूर है। जिस समाज में एक तरफ किसी के लिए अपनी पत्नी के जन्मदिन पर एक जहाज उपहार देना चुटकी बजाने का खेल हो और दूसरी तरफ देश की 80 प्रतिशत आबादी बीस रुपये रोज पर गुजारा करने को मजबूर हो, वहाँ गैरबराबरी की इस विराट खाई को पूर्व जन्म के कर्मों का फल बताना वास्तव में सच्चाई से मुँह चुराना है।

लोगों का बाबाओं की शरण में जाना भी एक तरह से इस सड़ी-गली व्यवस्था से उनके मोहभंग को ही दर्शाता

है। भिन्न-भिन्न सरकारों, नेताओं और पार्टियों ने लोगों को खूब ठग लिया। जब उन पर भरोसा नहीं रहा तो लोग अब नये ठगों के नये सुहाने भरम में पड़ने के लिए उमड़ रहे हैं। इसीलिए नेताओं की सभाओं से अधिक भीड़ आज बाबाओं के प्रवचन मण्डपों में देखने को मिल रही है।

लेकिन समस्याओं से छुटकारा दिलाने वाले किसी अलौकिक अवतार का इन्तजार करने के बजाय हमें अपने आप पर भरोसा करना होगा। हमारी समस्याओं का अन्त तो तभी सम्भव है जब समस्या के कारणों को पहचानकर उसे जड़ से उखाड़ फेंका जाये। हम सभी जानते हैं कि जंगल युग से चलकर आज के आधुनिक युग तक पहुँचने में हमारा मार्गदर्शन ढोंगी और पोंगापन्थी बाबाओं ने नहीं किया। उनका वश चले तो वे हमेशा हमें यथास्थितिवाद, भाग्यवाद और पलायनवाद के दलदल में ही धकेलने का काम करेंगे। हमारे पुरखों के लगातार संघर्ष और सच्चे बलिदानों से ही दुनिया आगे बढ़ी है और यहाँ तक पहुँची है। इसलिए हमें बुद्ध, कबीर और भगतसिंह जैसे अपने युगान्तरकारी पुरखों के नक्शेकदम पर चलने का प्रयास करना होगा।

□

दिल्ली में बढ़ती भ्रूण हत्या

देश का दिल कहलाने वाले दिल्ली शहर में लिंग परीक्षण व भ्रूण हत्या का अनैतिक और अमानवीय कुकर्म धड़ल्ले से जारी है।

समाज को नर्क में धकेलने वाली इस सामाजिक अपराध से सम्बन्धित एक अध्ययन में कुछ महत्वपूर्ण तथ्य उजागर हुए हैं। दिल्ली के नरेला इलाके में प्रति 1000 पुरुषों पर 828 महिलाएँ तथा पंजाबी बाग और नज फगढ़ में प्रति 1000 पुरुषों पर क्रमशः 828 और 842 महिलाएँ हैं। अध्ययन में पूछे गये सवालियों के जवाब में ज्यादातर लोगों ने बताया कि पुराने रीति-रिवाज और परिवारिक परम्पराएँ ही भ्रूण हत्या की ज्यादातर वारदातों के लिए जिम्मेदार हैं।

हमारे देश में ऐसी कई निराधार मान्यताएँ हैं जो समाज को रोज-बरोज पीछे धकेल रही हैं। हमारे यहाँ आम मान्यता है कि किसी की मृत्यु के बाद पुत्र द्वारा अन्तिम क्रिया करने से ही उसकी आत्मा को मोक्ष प्राप्त होता है। कोई इनसे पूछे कि पश्चिमी देशों में जहाँ ऐसी कोई सोच नहीं है, उन देशों में क्या सारी मृत आत्माएँ भटकती रहती हैं? अगर ऐसा होता तो कालान्तर में वहाँ मनुष्यों से कई गुना अधिक संख्या में प्रेतात्माएँ होतीं और इन्सानों का जीना ही दूभर कर देतीं।

पुत्र ही वंश का नाम आगे बढ़ाता है, यह भी ऐसी मान्यता है जिसे सुनकर हँसी भी आती है और गुस्सा भी। लोग उस वंश का नाम आगे बढ़ाने की चिन्ता में व्याकुल रहते हैं, जिसकी चार पीढ़ी पहले वाले पुरखों के नाम पूछो तो वे खुद ही बगलें-झाँकने लगते हैं। पता नहीं ऐसे लोग अपने वंश को गुलाम वंश, खिलजी वंश, मौर्य वंश, शुंग वंश का समझते हैं या गाँधी-नेहरू वंश का जिसे चलाने के लिए अजन्मी बेटियों का वध करना जरूरी समझते हैं।

विज्ञान तकनोलोजी, तर्कपरकता और आधुनिक जरूरतों के चलते पुरानी मान्यताओं को टूटना चाहिए था, लेकिन जर्जर सामाजिक मान्यताओं की कोढ़ में आर्थिक तंगी ने खाज का काम किया। मँहँगी होती शिक्षा, परिवार का दिवाला निकाल देने वाली खर्चीली शादी, दुल्हों का बढ़ता बाजार भाव और शादी के बाद भी भैया दूज, तीज-चौथ और हर मौके पर खर्च, लड़की पैदा होने पर भविष्य के स्थायी संकट का आभास करा देते हैं। इसकी परिणति स्त्री भ्रूण हत्या के रूप में होती है।

स्त्रियों की मुक्ति और स्त्री-पुरुषों के बीच बराबरी के लिए यह जरूरी है कि सड़ी-गली परम्पराओं और रूढ़ियों के खिलाफ आपस में मिलजुल कर संघर्ष किया जाये। □

अमरनाथ जमीन विवाद

□ महेश त्यागी

सुना है कि न्यूजीलैंड गर्म भाप के फव्वारों के लिए मशहूर है। बड़ी संख्या में सैलानी उनको देखने जाते हैं। लेकिन जमीन से इन स्रोतों के फूटने का कोई निश्चित समय नहीं होता। इसलिए जब ढेर सारे सैलानी जमा हो जाते हैं, तब पर्यटन विभाग के कर्मचारी इन फव्वारों के जमीनी स्रोतों में नमक भरना शुरू करते हैं और कुछ देर बाद गर्म पानी के फव्वारे फूट पड़ते हैं। इस तरह सैलानी और पर्यटन-विभाग, दोनों का काम पूरा हो जाता है।

आज कश्मीर में अवसरवादी राजनीतिक पार्टियों ने लोगों के असन्तोष को कुछ इसी तरह उभारने का काम किया है। श्री अमरनाथ श्राइन बोर्ड को 100 एकड़ जमीन आबंटित करने के मुद्दे पर जितने कश्मीरी सड़कों पर आये, उतना इससे पहले कभी नहीं देखा गया। सामान्य हालात में जमीन का अस्थाई हस्तांतरण कोई ऐसा मुद्दा नहीं हो सकता था कि पूरा कश्मीर दो हिस्सों में बँट जाये और दोनों तरफ से तलवारें खिंच जायें।

जम्मू कश्मीर की खराब स्थिति के पीछे कुछ जमीनी कारक हैं जिसकी जड़ें गहरी हैं, लेकिन कुछ ऐसे भी हैं जो छुद्र स्वार्थी और गन्दी राजनीति का नतीजा हैं। अमरनाथ जमीन विवाद में ये दोनों ही कारक मौजूद रहे हैं। जम्मू कश्मीर की स्थिति बिगाड़ने वाले तात्कालिक कारणों में से एक था, महबूबा मुफ्ती का पहले तो भूमि आबंटन का समर्थन करना और फिर अपनी सोच को पलटकर उसका विरोध करना। दूसरा, कश्मीर की आजादी की माँग करने वाली पार्टियों को पिछले पाँच सालों से कोई बड़ा मुद्दा नहीं मिल पाया था और वे काफी अलगाव में थीं। इस मुद्दे को उन्होंने हाथों-हाथ लिया और फिर ऐसे प्रचारित किया, जैसे 100 एकड़ जमीन नहीं बल्कि पूरा कश्मीर ही दौंव पर लगाया जा रहा है। तीसरा, जम्मू के हिन्दुओं को खुश करके उनमें काँग्रेस का आधार मजबूत करने के लिए मुख्यमन्त्री गुलाम नबी आजाद ने जान बूझ कर यह स्पष्ट नहीं किया कि जमीन का आबंटन अस्थाई है। इन सभी कारकों ने फूटपरस्त

हिन्दूवादी संगठनों के चिरस्थायी एजेण्डे पर भी एक पका-पकाया मुद्दा लाकर रख दिया जो हमेशा ऐसे मौकों की ताक में रहते हैं। इस मुद्दे को इन संगठनों ने 'हिन्दू हित की बात करके देश पर राज करने' के अपने मंसूबों के लिए खूब जमकर इस्तेमाल किया।

जम्मू और कश्मीर साम्प्रदायिकता की आग में धूँ-धूँ कर जलने लगा और अन्ततः 40 लोगों की मौत और अरबों की सम्पत्ति नष्ट होने तथा स्थिति नियन्त्रण से बाहर होने के बाद केन्द्र सरकार के हस्तक्षेप से, जो बहुत पहले भी किया जा सकता था, यह मामला शान्त हुआ। इस मुद्दे पर सहमति बनी कि श्राइन बोर्ड को जमीन का आबंटन केवल यात्रा सीजन के दौरान अस्थायी रूप से किया जायेगा। अगर बात इतनी ही थी तो इतने खून-खराबे के पीछे जान-बूझकर मुद्दे को उलझाने के अलावा कोई कारण नहीं था क्योंकि पहले भी जमीन का अस्थाई आबंटन ही किया गया था। सवाल यह है कि इतनी बड़ी तदाद में कश्मीरी युवा अमरनाथ मुद्दे के समर्थन और विरोध में सड़कों पर क्यों आ गये?

दरअसल इस मुद्दे को उठाकर कश्मीर की आजादी की माँग करने वाली पार्टियों ने कश्मीरियों में सदियों से व्याप्त बाहरी लोगों के प्रति अविश्वास और भय को भुनाने का भरपूर प्रयास किया। वे लोगों को इस बात का यकीन दिलाने में सफल रहे कि भारत सरकार बहुत सोचे-समझे तरीके से कश्मीरियों की मुस्लिम पहचान मिटाने की कोशिश कर रही है और एक धर्म-निरपेक्ष राज्य में इस्लाम फल-फूल नहीं सकता। हिन्दूवादी संगठनों और राज्य मशीनरी द्वारा मुसलमानों के दमन-उत्पीड़न की हर कार्रवाई घाटी के लोगों को भयभीत करने के उनके अभियान में सहायक होती है। जम्मू में उग्र आन्दोलन तथा कट्टरपन्थी हिन्दू संगठनों और नेताओं द्वारा श्रीनगर घाटी की खाद्य आपूर्ति रोकने और धारा 370 खत्म करने जैसे वक्तव्यों ने भी मुस्लिम कट्टरपन्थी संगठनों को मुद्दा गरमाने में भरपूर मदद पहुँचायी।

इतने बड़े स्तर पर हुए विरोध प्रदर्शन ने एक बार फिर

कश्मीर में अलगाव की आग को भड़का दिया। भाजपा ने जम्मू, श्रीनगर और लद्दाख को साम्प्रदायिक आधार पर क्रमशः हिन्दू, मुस्लिम और बौद्ध बहुल क्षेत्र में बाँटने का अपना पुराना फार्मुला भी इस दौरान उछाला जो उन्होंने काफी समय से ठण्डे बस्ते में डाला हुआ था। यह भी परोक्षतः कश्मीर में अलगाववाद को बढ़ावा देने वाला फार्मुला ही है। मिडिया में यह विचार भी सामने आया कि कश्मीर को अलग कर देने का वक्त आ गया है। वर्षों की अशान्ति, खून-खराबे, पीड़ा-व्यथा और असन्तोष ने ऐसी सोच को बढ़ावा दिया है। लेकिन इस समस्या का समाधान तब तक नहीं हो सकता जब तक कश्मीर के असन्तोष की मूल वजह को समझा नहीं जाता।

स्थिति बिगड़ने का एक महत्वपूर्ण कारण इस क्षेत्र के विकास की लगातार हो रही अनदेखी है। लोग बेरोजगार हैं, मूल सुविधाओं से वंचित हैं। ऐसे में उनके मन में असन्तोष फैलना लाजिमी है। आज कश्मीरी युवाओं के एक बड़े हिस्से में असमान पूँजीवादी विकास और कश्मीर की उपेक्षा को लेकर गहरा असन्तोष व्याप्त है। विरोध-प्रदर्शन की अगुआई करते ऐसे असंख्य युवाओं को हमने टी.वी. पर देखा जो जीन्स-टी शर्ट पहने हुए थे। इन युवाओं को लगता है कि पूँजीवाद द्वारा निर्मित वर्तमान जमीनी स्वर्ग में प्रवेश करने से उन्हें लगातार वंचित किया जा रहा है। अगर थोड़ी भी संवेदना और सहानुभूति से वहाँ की घटनाओं पर गौर किया जाय तो अलगाववादी आतंकवाद और राज्य आतंकवाद के दो पाटों के बीच फँसी कश्मीर की जनता की त्रासदी को समझना मुश्किल नहीं।

समस्या का एक पहलू यह भी है कि अस्थायी आबंटन से जुड़े सामाजिक-आर्थिक और साम्प्रदायिक मुद्दों की अपेक्षा वहाँ के पर्यावरण के विनाश का खतरा कहीं ज्यादा गम्भीर है। लेकिन इन साम्प्रदायिक ताकतों का इससे कोई लेना-देना नहीं है कि आज अमरनाथ यात्रा क्षेत्र के पर्यावरण को कितना भारी नुकसान पहुँच रहा है। इस तीर्थ स्थल में आस्था रखने वाले भक्तों और आयोजकों ने अपनी आँख पर पट्टी बाँध ली है। वे आने वाले कल की ओर देखना नहीं चाहते जिसकी झलक हिम-शिवलिंग के समय से पहले ही पिघलने या लुप्तप्राय हो जाने के रूप में आज भी समय-समय पर दिखाई दे जाती है। इसका मुख्य कारण तीर्थयात्रियों की बेतहाशा बढ़ती संख्या व उनके द्वारा फैलाया जा रहा प्रदूषण है। भविष्य में वहाँ कार-ट्राली व्यवस्था और आवासीय सुविधाएँ

विकसित करने का परिणाम क्या होगा, इसका सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है।

हिन्दुवादी ताकतों ने कश्मीर के सुसुप्त पड़े हुरियत आन्दोलन की जितनी मदद की है उतनी शायद अब तक किसी ने नहीं की होगी। साथ ही हिन्दुवादियों के दीर्घकालिक कार्यक्रम और हाल के गुजरात दंगों ने मुसलमानों के मन में वर्षों से संचित असुरक्षा, अविश्वास और भय को पोषित किया है। बरसों से मुस्लिम साम्प्रदायिक शक्तियों ने प्रचार किया है कि मुसलमान भारत में सुरक्षित नहीं है। इन नई घटनाओं ने केवल इसे पुष्ट और प्रमाणित किया है।

मुस्लिम चरमपन्थियों की नीति और हिन्दुवादी ताकतों की नीतियों में काफी समानता है और दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। दोनों एक दूसरे को बढ़ावा देते हैं। दोनों ही अपने-अपने धर्मावलम्बियों के असन्तोष की आग का इस्तेमाल अपनी रोटियाँ सेंकने के लिये करते हैं। एक लेखक ने ठीक ही कहा है “हालाँकि गिलानी और तोगाड़िया दुश्मन लगते हैं लेकिन दोनों का उद्देश्य एक समान है।” दोनों बाँटने की राजनीति करते हैं और उसी पर पलते हैं। उनके दुष्प्रचार के आगे यह तथ्य भुला दिया जाता है कि अमरनाथ की खोज और संरक्षित करने वाले मुसलमान थे। आज भी वहाँ तीर्थ यात्रियों को मुसलमान ही दर्शन करवाते हैं और हर तरह से उनका सहयोग करते हैं। सूफी-सन्तों की दरगाहों पर हिन्दू-मुसलमान दोनों ही सिजदा करते हैं। आपसी भाईचारे की यही बातें फिरकापरस्तों की आँखों में चुभती हैं।

सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि आज हिन्दू-मुसलमान अवाम के आगे असली सवालात मँहगाई, बेरोजगारी, बढ़ती गरीबी और गैरबराबरी हैं। इनसे भटकाने के लिए ही फूटपरस्त राजनीति के झंडाबरदार नकली मुद्दों की तलाश में रहते हैं और उन्हें उछाल कर जनता में फूट डालने का कोई मौका हाथ से जाने नहीं देते। दोनों ही धर्मों के ठेकेदार इस मामले में एक दूसरे से चार हाथ आगे हैं, लेकिन बहुसंख्यक होने के कारण हिन्दू कट्टरपन्थियों का पलड़ा भारी रहता है। इन फिरकापरस्तों के पास नमक की कोई कमी नहीं है। जब भी अवसर आयेगा वे गर्म भाप के फव्वारे के सोतों में नमक डालेंगे और तब तक डालते रहेंगे जब तक फव्वारे की चपेट में आकर या फिर जनता की सचेत कार्यवाइयों के जरिये इनकी राजनीति का अन्त न हो जाये।

□

उच्च शिक्षा में विदेशी घुसपैठ

□ अभिलाष

विदेशी विश्वविद्यालय कानून दो वर्षों से सत्तापक्ष के भीतर मतभेद के कारण लटका हुआ है जबकि विदेशी विश्वविद्यालय अपनी दुकानें खोलने के लिए व्यग्र हैं। खबर है कि 40 विदेशी विश्वविद्यालयों ने महाराष्ट्र सरकार से मुम्बई-पुणे-नासिक मार्ग पर अपने-अपने कैम्पस खोलने के लिए जमीनें माँगी हैं। महाराष्ट्र ही इसका एकमात्र उदाहरण नहीं है। ये विश्वविद्यालय देश के बाकी हिस्सों में भी इसी तरह जमीन की तलाश में लगे हैं क्योंकि ये जानते हैं कि देर-सबेर यह कानून पास होना ही है।

इन विश्वविद्यालयों का भारत के प्रति मोह इसलिए पैदा हुआ है क्योंकि भारत उच्च शिक्षा के लिए दुनिया का सबसे बड़ा बाजार है। उच्च शिक्षा की यहाँ भारी माँग है जिसे अभी तक पूरा नहीं किया जा सका है। हमारे देश के 12वीं पास करने वाले 11 करोड़ छात्रों में से केवल 10 फीसदी ही उच्च शिक्षा में प्रवेश ले पाते हैं, जबकि चीन में यहाँ से दो गुणे लोग उच्च शिक्षा प्राप्त करते हैं। कई अन्य विकासशील देशों की स्थिति भी इस मामले में भारत से काफी अच्छी है। भारत में उच्च शिक्षा पर सकल घरेलू उत्पाद का केवल 0.37 फीसदी हिस्सा खर्च किया जाता है जबकि चीन में 0.50 फीसदी, अमरीका में 1.41 फीसदी और ब्रिटेन में 1.47 फीसदी खर्च किया जाता है। चूँकि इन देशों का सकल घरेलू उत्पाद भारत से कई गुणा अधिक है, इसलिए उच्च शिक्षा पर खर्च होने वाली उनकी कुल रकम के आगे भारत का बजट कहीं नहीं ठहरता।

भारत के सन्दर्भ में महत्वपूर्ण बात यह भी है कि हमारे यहाँ कुल 18,000 उच्च शिक्षण संस्थाएँ हैं, जिनमें 370 विश्वविद्यालय हैं। इसलिए प्रति संस्था सरकारी खर्च और भी कम बैठता है। इसमें भी उच्च शिक्षा पर कुल खर्च का एक चौथाई हिस्सा केवल 130 विशिष्ट संस्थाओं के खाते में चला जाता है। यानी प्रति संस्था वास्तविक खर्च इतना कम बैठता है कि इससे उच्च शिक्षा की वास्तविक जरूरत के एक अंश मात्र की ही पूर्ति सम्भव हो पाती है।

हमारे देश में प्रतिवर्ष 10 करोड़ छात्रों को उच्च शिक्षा में प्रवेश से वंचित रहना पड़ता है, जो दुनिया के कई देशों की कुल आबादी से भी कहीं ज्यादा है। ये 10 करोड़ छात्र ही उच्च

शिक्षा के उस बड़े बाजार के ग्राहक हैं, जिसके लिए ये विदेशी संस्थाएँ यहाँ कैम्पस खोलने को लालायित हैं। योजना आयोग के अनुसार देश में 200 अतिरिक्त विश्वविद्यालय खोलने की आवश्यकता है, जिसके लिए 30,682 करोड़ रुपये सरकारी व्यय के अलावा 191,318 करोड़ रुपये के निजी निवेश की आवश्यकता होगी। ज्ञान आयोग के अनुसार 1,500 नये विश्वविद्यालयों की आवश्यकता बतायी गयी है। स्पष्ट है कि भारत में उच्च शिक्षा एक ऐसा क्षेत्र है जहाँ अरबों रुपये के निवेश की सम्भावना है। चूँकि दुनिया के अधिकांश विकसित देशों में नयी संस्थाएँ खोलने में निवेश की सम्भावनाएँ बहुत कम बची हैं। इसलिए ये संस्थाएँ अपने देशों में संतुष्टि के स्तर पर पहुँच चुकी हैं और अपनी पूँजी का विशाल भण्डार लिये भारत के बाजार में दस्तक दे रही हैं।

इसी विशाल बाजार को देखते हुए आज उच्च शिक्षा के लिए गठित सरकारी आयोग के सदस्यों, विदेशी पूँजी के साथ गठजोड़ करके अपना हित साधने वाले पूँजीपतियों और विदेशी पूँजी निवेश को ही देश की समस्याओं का एकमात्र समाधान मानने वाले परजीवी अर्थशास्त्रियों, सभी को भारतीय उच्च शिक्षा की चिन्ता सताने लगी है। लेकिन उच्च शिक्षा में सुधार से इनका आशय वर्तमान कमियों को दूर करके इसे अधिक मजबूत और व्यापक बनाने से कतई नहीं है बल्कि इसके ठीक विपरीत इनकी मंशा इस ढाँचे को पूर्ण रूप से समाप्त कर एक ऐसी शिक्षा व्यवस्था कायम करना है जो इस नयी साम्राज्यवादी आर्थिक प्रणाली के सर्वथा अनुकूल हो।

भारतीय उच्च शिक्षा का वर्तमान ढाँचा अपूर्ण व अपर्याप्त भले ही था लेकिन इसके लक्ष्य, पाठ्यक्रम और वैचारिक आधार यहाँ के शासकों ने अपनी जरूरतों और प्राथमिकताओं के अनुरूप तैयार किया था। अर्थशास्त्र और राजनीति विज्ञान से लेकर कृषि विज्ञान और तकनीकी विषयों तक के पाठ्यक्रमों का निर्धारण देश की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर किया गया था। अब जबकि आत्मनिर्भर विकास को शासक वर्गों ने तिलांजलि दे दी है और साम्राज्यवादी वर्चस्व वाली नयी आर्थिक विश्वव्यवस्था को अपना लिया है तब उच्च शिक्षा का पुराना ढंग-ढर्रा भी नयी आर्थिक प्रणाली के लिए बेकार हो चुका है।

पुरानी शिक्षा के स्थान पर अब बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के मुनाफे में अधिक से अधिक इजाफा करने के गुर सिखाने वाली शिक्षा व्यवस्था खड़ी की जा रही है। इसका लक्ष्य अपने देश व जनता से कटे हुए, समाज की चिन्ताओं से दूर देशी-विदेशी कम्पनियों के लिए वफादार कर्मचारी तैयार करना है जिनके न तो अपने स्वतन्त्र विचार हों और न ही उनका कोई सामाजिक सरोकार हो।

शिक्षा के अन्तरराष्ट्रीय व्यवसायी जो उच्च शिक्षा को खरीदने-बेचने की वस्तु और मुनाफे का जरिया समझते हैं, वे इस कोशिश में हैं कि शिक्षा को एक माल बना दिया जाये और हर तरह के शैक्षिक उत्पाद के लिए देश की सीमा पूरी तरह खोल दी जाये। उच्च शिक्षा की मुनाफाखोर कम्पनियाँ, निजी विश्वविद्यालय, परीक्षा संचालित करने वाली ऐजेन्सियाँ तथा शिक्षा का निर्यात करने वाली ब्रिटेन और अमरीका की संस्थाएँ ही नहीं बल्कि भारत के अँग्रेजनुमा लोग और अमरीका-परस्त बुद्धिजीवी सब यही चाहते हैं। लेकिन जो लोग यह मानते हैं कि उच्च शिक्षा का बिकाऊ माल से अधिक भी कुछ मायने है, उनके लिए विश्वविद्यालयों और अकादमिक कार्यक्रमों का धड़ल्ले से आयात-निर्यात एक गम्भीर चिन्ता का विषय है क्योंकि व्यापारी हर चीज को केवल बाजार के तर्क से चलाता है और तात्कालिक माँग वाले उत्पाद बेचकर अधिक से अधिक मुनाफा कमाने में ही रुचि रखता है, चाहे वह शिक्षा का पाठ्यक्रम हो या जूता-चप्पल।

शिक्षा का व्यापार करने वाली इन संस्थाओं की रुचि शोध संस्थान स्थापित करने, छात्रों की विश्वविद्यालय तक पहुँच बढ़ाने और वंचित तबकों के लिए समतामूलक शिक्षा की व्यवस्था करने में कतई नहीं होती। ये इसके उल्टी दिशा में ही काम करती हैं। भारतीय निजी शिक्षा के क्षेत्र में अभी तक जो संस्थाएँ बी. एड., पैरामैडिकल, कम्प्यूटर इन्जिनियरिंग व फैशन डिजाइनिंग आदि की शिक्षा का व्यापार कर रही हैं, इनमें एक भी शोध संस्थान नहीं है और न ही वे कोई समाजोपयोगी शोध कार्यक्रम चलाती हैं। मानविकी, विज्ञान और भाषा जैसे गैर मुनाफे वाले, मानव समाज के विकास के लिए जरूरी क्षेत्र में एक भी निजी विश्वविद्यालय नहीं है। इसके विपरीत सैकड़ों विश्वविद्यालयों में इतिहास और दर्शनशास्त्र जैसे मानविकी विषयों को हटाकर उनके स्थान पर मैनेजमेन्ट और फैशन डिजाइनिंग जैसे विषय शुरू किये गये हैं। लेकिन ये छोटे-छोटे उदाहरण तो कुछ भी नहीं हैं। क्योंकि अभी तक ये निजी संस्थाएँ या तो विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की नियमावली के अधीन काम कर रही हैं या किसी भारतीय विश्वविद्यालय के साथ साँठ-गाँठ करके अपना कारोबार चला रही हैं।

शिक्षा व्यापार के बड़े खिलाड़ी अभी बाजार के द्वार पर दस्तक दे रहे हैं। लॉरिएट एजुकेशन कम्पनी जैसी विदेशी संस्थाएँ भी भारतीय बाजार में घुसने के लिए लालायित हैं। ये उन्हीं क्षेत्रों में अकादमिक कार्यक्रम उपलब्ध कराते हैं जिनकी भारी माँग हो। सामान्यतः कोई भी कम्पनी भारत में भारी लागत वाले शैक्षिक ढाँचे, जैसे-विज्ञान प्रयोगशाला और शोध की सुविधा पर खर्च नहीं करना चाहती। ये दूसरी किसी भी व्यापारिक कम्पनियों की तरह लागत को कम करने और मुनाफे को अधिकतम करने पर जोर देती हैं।

ब्रिटेन और आस्ट्रेलिया सहित कई देशों की तो राष्ट्रीय नीति ही है उच्च शिक्षा का निर्यात करके मुनाफा कमाना। ब्रिटिश काउन्सिल और ऐसी ही कई अन्य संस्थाएँ जैसे तो सूचना के व्यापार में लगी हैं लेकिन उनका असली उद्देश्य ब्रिटिश संस्थाओं की निर्यात क्षमता बढ़ाने में सहायता पहुँचाना है।

अमरीका में शिक्षा की जिम्मेदारी उसके 50 राज्यों की है और वहाँ कोई राष्ट्रीय शिक्षा नीति नहीं है। लेकिन वहाँ बड़ी संख्या में निजी उच्च शिक्षा संस्थाएँ हैं जो शिक्षा निर्यात के मामलों में काफी आक्रामक हैं। वहाँ की घटिया दर्जे की शिक्षण संस्थाएँ बड़ी संख्या में भारतीय बाजार में पैठ बनाने की तैयारी कर रही हैं। शिक्षा बाजार के सबसे बड़े खिलाड़ी लॉरिएट एजुकेशन कम्पनी की रणनीति अपने स्कूल खोलने के अलावा विदेशी विश्वविद्यालयों को खरीदने की भी है। उसने तीन महादेशों के 29 विश्वविद्यालयों को खरीद लिया है। लॉरिएट ने आन्ध्र प्रदेश में भी अपना एक विश्वविद्यालय शुरू किया था, लेकिन सरकारी नियन्त्रण ज्यादा जटिल मानते हुए उसने अपना कारोबार बन्द कर दिया है। जाहिर है कि ये विदेशी संस्थाएँ किसी भी तरह के सरकारी नियन्त्रण को स्वीकार नहीं करना चाहतीं।

शिक्षा को माल बनाकर बेचने के लिये कुख्यात इन कम्पनियों का चरित्र और इनका उद्देश्य किसी से छुपा नहीं है। बल्कि डंके की चोट पर ये इस व्यापार में लगी हैं। सवाल यह है कि पूर्णतया राज्य के नियन्त्रण में संचालित होने वाली सस्ती और सुलभ शिक्षा को, जिसे राज्य का दायित्व समझा जाता था, क्यों इन लुटेरी कम्पनियों के हवाले किया जा रहा है? उच्च शिक्षा से देश की वर्तमान और भावी पीढ़ियों के साथ-साथ पूरा इतिहास प्रभावित होता है। उसे विदेशी कम्पनियों के मुनाफे का साधन क्यों बनाया जा रहा है?

उच्च शिक्षा को विदेशी पूँजी के हवाले करने के पक्ष में तर्क गढ़ने वाले कम्पनियों के ये पैरोकार वास्तव में कोई अप्रत्याशित बात नहीं कह रहे हैं। देश का शासक वर्ग व्यापार से लेकर विदेश नीति और रक्षा जैसे महत्वपूर्ण मामलों में अमरीकी नेतृत्व की

साम्राज्यवादी नीतियों को स्वीकार करके संध्रयकारी की भूमिका अपना चुका है। उच्च शिक्षा के क्षेत्र में विदेशी कम्पनियों को खुली छूट और निजीकरण की तैयारी भी उसी का अनिवार्य हिस्सा है।

भारतीय उच्च शिक्षा का वर्तमान ढाँचा जो पहले से ही कमजोर था, सरकार की नीयत बदलने के बाद पूरे तौर पर उनकी जरूरत से बेमेल हो चुका है क्योंकि जिस तेजी के साथ '90 के बाद देश में बहुराष्ट्रीय कम्पनियों का जाल बिछाया गया है उसके अनुकूल पाठ्यक्रम, शिक्षण, तकनीक और शिक्षण संस्थाओं का आयात अनिवार्य है। नयी अर्थव्यवस्था में रोजगार पाने के लिए जिस तरह की शिक्षा और प्रशिक्षण की आवश्यकता है उसकी एकमात्र विक्रेता ये कम्पनियाँ ही होंगी।

मध्यम वर्ग का बड़ा हिस्सा जो अभी तक सरकारी सहायता प्राप्त संस्थाओं में सस्ती शिक्षा प्राप्त करता था, अब या तो कर्ज

लेकर और सम्पत्ति बेचकर शिक्षा प्राप्त करने को बाध्य होगा या फिर उच्च शिक्षा के मामले में पहले से ही हाशिये पर फेंक दिये गये गरीब लोगों की जमात में शामिल हो जायेगा। इसकी शुरुआत हो चुकी है। उच्च शिक्षा का उपभोक्ता मुख्यतः मध्यम वर्ग ही है जो लड़ने के बजाय अपना जुगाड़ बैठाने में ही यकीन करता है। शायद इसीलिए उच्च शिक्षा के विदेशीकरण के खिलाफ कोई विरोध का स्वर मुखर नहीं हो रहा है। लेकिन ये कम्पनियाँ शिक्षा का प्रसाद बॉटने नहीं आ रही हैं।

“अपना कल्याण ही जगत का कल्याण है” और “ज्ञान को निजी सम्पत्ति मानकर जैसे-तैसे उसे हासिल कर लेने” की तंगनजरी छोड़कर पूरे देश और समाज के भविष्य की चिन्ता करने वाले ही इस हालात को बदलने की दिशा में कोई पहल कर सकते हैं।

□

शिक्षा का बाजारीकरण

□ अश्विनी

बाजारीकरण की आर्थिक नीति को अपनाने के बाद निजी शिक्षण संस्थानों या कहें कि शिक्षा की दुकानों का तेजी से प्रसार हुआ है। स्कूल स्तर पर फलता-फूलता शिक्षा का व्यवसाय अब निजी विश्वविद्यालयों तक फैल चुका है। शिक्षा जो सम्पूर्ण समाज के विकास और परिवर्तन का माध्यम है, अब शुद्ध रूप से एक बिकाऊ माल बन कर रह गयी है।

संविधान के माध्यम से 14 वर्ष तक के बच्चों को शिक्षा देने का दायित्व राज्य सरकार को दिया गया है। सर्वोच्च न्यायालय ने अपने एक फैसले में माना कि शिक्षा जीवन के अधिकार का ही एक भाग है। सरकार ने जीवन के अधिकार की इस विस्तृत व्याख्या को सीमित करने के लिए 83वाँ संविधान संशोधन किया, और शिक्षा को केवल 6-14 वर्ष तक के बच्चों का ही मौलिक अधिकार माना है। यानि 6 वर्ष तक के बच्चों की शिक्षा के दायित्व से सरकार ने पल्ला झाड़ लिया दूसरी तरफ उसने 6-14 वर्ष की शिक्षा का दायित्व परिवार और समुदाय पर थोप दिया। शिक्षा व्यवस्था में बदलाव लाकर सरकार ने शिक्षा को आम आदमी की पहुँच से दूर कर दिया है।

आज शिक्षा एक खरीदने-बेचने की वस्तु और पूँजीपतियों की सम्पत्ति को बढ़ाने का एक साधन बन चुकी है। जिसकी

जेब में जितना पैसा होगा उसी स्तर की शिक्षा को उसे बेचा जायेगा।

शोषण आधारित वर्तमान शिक्षा व्यवस्था तीन तरह से समाज का शोषण करती है पहला अभिभावकों एवम् विद्यार्थियों का, दूसरा कार्यरत शिक्षकों एवम् कर्मचारियों का, तीसरा सम्पूर्ण समाज का। निजी स्कूल-कॉलेज अपनी चमक दमक के माध्यम से एक ऐसा वातावरण प्रस्तुत करने का प्रयास करते हैं कि वे ही बेहतर शिक्षा दे सकते हैं। अँग्रेजी ही शिक्षा का एकमात्र माध्यम हो सकती है। व्यवसायिक शिक्षा के जरिये वे ही विद्यार्थी को स्वावलंबी बना सकते हैं। अभिभावकों को अपने चंगुल में फँसाने के लिए वे प्रचार-प्रसार के सभी तरीके अपनाते हैं।

अभिभावकों की माली हालत के हिसाब से अलग-अलग स्तर के स्कूल-कॉलेजों में हर तरह के माल बिक रहे हैं। गली-नुक्कड़ों पर खुले गैरमान्यताप्राप्त स्कूलों से लेकर पाँच सितारा वातानुकूलित स्कूल तक सबका अपना-अपना बाजार है।

आज अभिभावक चाहे वह सरकारी स्कूलों में अपने बच्चे भेजता हो या विश्वस्तरीय पब्लिक स्कूलों में, हर अभिभावक अपने बच्चे की पढ़ाई पर अपनी औकात भर पैसा खर्च करता है।

सवाल यह उठता है कि इतना खर्च करने पर भी क्या उसे

बेहतर शिक्षा मिल पाती है या उसे ठगा जाता है? यदि अभिजात वर्ग के बच्चों को उच्च कोटि की शिक्षा देने के लिए खोले गये पाँच सितारा स्कूलों को छोड़ दें तो मध्यम वर्ग और निम्न मध्यम वर्ग के विद्यार्थियों को शिक्षा के नाम पर सिर्फ ढकोसलेबाजी ही मिलती है। चूँकि इन स्कूलों में शिक्षा का माध्यम उन पर थोपी गयी भाषा अँग्रेजी होती है। इसलिये विद्यार्थी पर रटने का अनावश्यक दबाव बनता है। शिक्षा के जरिये विद्यार्थियों की सोचने-समझने की क्षमता बढ़ाने के बजाय इन स्कूलों में केवल उनमें रटने की क्षमता को ही बढ़ावा दिया जाता है। अर्थात् बिना समझे उन बातों को रटना जिनका जिन्दगी की वास्तविकता से कोई लेना देना न हो। ये स्कूल सी.बी.एस.ई. एन.सी.ई.आर. टी. के पाठ्यक्रम अपनाने का बड़-चढ़ कर दावा करते हैं लेकिन पाठ्यक्रम एक जैसा होते हुए भी अलग-अलग वर्ग के विद्यार्थी को अलग-अलग माल बिकता है। जो विद्यार्थी शिक्षा के इन निजी दुकानों तक नहीं पहुँच पाते उनके लिये भी इस व्यवस्था में जगह दी गयी है सरकार ने उनके लिए जो स्कूल खोले हैं, उनमें खिचड़ी चावल के साथ विद्यार्थियों को सिर्फ घटिया दर्जे की साक्षरता ही मिल पाती है। यानि उच्च वर्ग के लिये खोले गये विश्वस्तरीय स्कूलों को छोड़ दें तो वर्तमान शिक्षा व्यवस्था में अधिकांश आम घरों की सन्तानों को शिक्षा का घटिया माल ही मिल रहा है। तामझाम और भड़कीले प्रचार-प्रसार करके स्कूलों के मालिक अभिभावकों को केवल झूठे खाब ही दिखाते हैं। शिक्षा के व्यापक उद्देश्यों को प्राप्त करने के स्थान पर विद्यार्थियों को रटन्त विद्या प्रदान कर ये संस्थाएँ विद्यार्थियों का मानसिक शोषण और उनके अभिभावकों का आर्थिक शोषण करती है।

निजी शिक्षण संस्थाओं में शिक्षकों के शोषण की कोई सीमा नहीं। औने-पौने दामों पर उन्हें नियुक्त किया जाता है। सोचिए जो शिक्षक अपनी आय से अपनी न्यूनतम जरूरतें पूरी नहीं कर पाता वह भला दूसरों को किस प्रकार की शिक्षा देगा। मानसिक तनाव से ग्रस्त शिक्षक मानसिक रूप से विकृत विद्यार्थियों को ही तैयार कर सकता है। शिक्षकों का शोषण करने में सरकारी क्षेत्र निजी क्षेत्र से पीछे नहीं है। हर राज्य में शिक्षकों के हजारों पद खाली पड़े हैं। उस पर स्थायी नियुक्ती करने के स्थान पर अस्थायी शिक्षकों, कॉन्ट्रैक्ट टीचरों या ट्यूटर्स की नियुक्ती की जाती है। इन शिक्षकों को स्थायी शिक्षकों के वेतन का एक चौथाई भी नहीं दिया जाता जबकि स्थायी शिक्षकों के सम्पूर्ण काम की जिम्मेदारी अस्थायी शिक्षकों पर थोप दी जाती है। यह व्यवस्था केवल अस्थायी शिक्षकों का शोषण ही नहीं करती बल्कि परोक्षतः निजी शिक्षण संस्थाओं को शिक्षक वर्ग का शोषण करने

के लिए सरकारी प्रोत्साहन भी है।

पब्लिक स्कूल अथवा निजी स्कूल के शिक्षकों की निगाह हमेशा इसी बात पर टिकी रहती है कि वे किस तरह विद्यार्थियों को अपने कोचिंग सेन्टर तक खींच लायें क्योंकि उनकी आजीविका ट्यूशन से होने वाली आय पर ही निर्भर करती है। आज बहुत से स्कूल मालिक शिक्षकों को इस कार्य के लिए प्रोत्साहित करते हैं और उनमें कुछ तो उनसे कमीशन भी लेते हैं। जाहिर है कि शिक्षक चाहे निजी शिक्षण संस्थाओं में कार्यरत हो या सरकारी स्कूलों में अस्थायी नियुक्ति पर, आज अधिकांश शिक्षकों को कम तनखाह, नौकरी से निकाले जाने का भय, सामाजिक असुरक्षा और समाज में दयनीय और अपमानजनक स्थिति का सामना करना पड़ रहा है। मुट्टी भर स्थायी सरकारी शिक्षकों और अभिजात वर्गीय पब्लिक स्कूलों को छोड़ दें तो हर जगह शिक्षकों में असन्तोष और कुण्ठा व्याप्त है।

वर्तमान शिक्षा व्यवस्था समाज को रसातल की ओर ले जा रही है। मानसिक तनावग्रस्त और असन्तुष्ट शिक्षक और अर्ध शिक्षित शिक्षार्थी भला कैसे समाज का निर्माण कर सकते हैं? निजी शिक्षण संस्थान सरकार से औने-पौने दामों पर जमीन और अन्य संसाधन लेते हैं परन्तु बदले में समाज को अस्वस्थ बनाने और अपना मुनाफा बटोरने के सिवा और क्या करते हैं? इन शिक्षण संस्थानों के मालिक इन दुकानों के जरिये अपनी दौलत दुगुनी-तिगुनी कर रहे हैं। उस दौलत की बदौलत वे ऊँचे ओहदे वाले राजनेताओं और नौकरशाहों से सम्पर्क स्थापित करते हैं जो इन संस्थाओं को संरक्षण प्रदान करते हैं। दिखावे के लिए हमारी सरकार सर्व शिक्षा अभियान का ढोल पीटती है परन्तु इन सरकारों को चलाने वाले नेता और नौकरशाहों का व्यक्तिगत फायदा निजी शिक्षण संस्थाओं के प्रसार में ही है।

आज अभिभावक, विद्यार्थी और शिक्षकों को ही नहीं बल्कि सम्पूर्ण समाज को इन शिक्षण संस्थानों की मनमानी और दुर्व्यवस्था के खिलाफ संघर्ष छेड़ना होगा। शोषण और लाभ पर आधारित इस शिक्षा व्यवस्था की जगह 'समान शिक्षा व्यवस्था' को स्थापित करना जरूरी है। एक ऐसी शिक्षा व्यवस्था जहाँ समाज का हर वर्ग एक साथ शिक्षा ग्रहण कर सके। एक ऐसी शिक्षा व्यवस्था जिसका उद्देश्य विद्यार्थियों का समग्र विकास और समाज की प्रगति होना चाहिए न की मुट्टी भर लोगों के मुनाफे, निजी लाभ-लोभ का जरिया।

□

जार्जिया-रूस संघर्ष : साम्राज्यवादी कुचक्रों का नतीजा

□ संजीव

7 अगस्त 2008 को जॉर्जियाई सेना ने दक्षिण ओसेतिया पर आक्रमण करके राजधानी तस्किनवली पर कब्जा जमाने की कोशिश की। अगले दिन संघर्ष में 13 रूसी शान्तिरक्षक सैनिक मारे गये। रूसी सेना ने 10 अगस्त को जवाबी कार्रवाई की। एक दिन की लड़ाई के बाद ही जॉर्जिया ने दक्षिण ओसेतिया पर हमला रोक दिया। युद्ध में रूस के 59 और जार्जिया के 146 सैनिक मारे गये, जबकि दोनों ओर के हमलों में ओसेतिया के 133 और जार्जिया के 69 नागरिकों की मौत हुई। इस तरह अमरीकी शह पर जॉर्जियाई राष्ट्रपति का अजारिया, अबखाजिया और दक्षिण ओसेतिया पर नियन्त्रण स्थापित करने का दुस्साहसिक सपना धरा का धरा रह गया।

मजेदार बात यह कि इस लड़ाई के समय रूस के प्रधानमंत्री पुतिन और अमरीकी राष्ट्रपति बुश एक साथ बैठकर बीजिंग ओलम्पिक में खेल का लुत्फ उठा रहे थे। सकाशिवली के शांतिर दिमाग ने हमले की योजना उस समय बनाई जब रूसी संसद में ग्रीष्म अवकाश के कारण रूसी राष्ट्रपति मेद्वेदेव छुट्टी पर थे और बीजिंग में ओलम्पिक चल रहा था। सकाशिवली को यह भ्रम था कि दक्षिण ओसेतिया के लोग जॉर्जिया के साथ उसके एकीकरण का स्वागत करेंगे जबकि दक्षिण ओसेतिया में रह रहे 70 हजार लोगों में से 80 फीसदी रूसी हैं। अन्तराष्ट्रीय कानून और संयुक्त राष्ट्र शासनादेश के तहत रूस के शान्तिरक्षक सैनिकों की जिम्मेदारी थी की वे “सुरक्षा गलियारे” की शान्ति बनाए रखें। इसी का हवाला देकर बाद में मेद्वेदेव ने जॉर्जिया के खिलाफ अपने सैनिक अभियान को सही ठहराने की कोशिश की।

हफ्ते भर की इस लड़ाई में रूस और जॉर्जिया के सैकड़ों नागरिक और सैनिक मारे गये। संयुक्त राष्ट्र ने बताया कि इस युद्ध में एक लाख लोग अपने घरों से विस्थापित हुए हैं। जॉर्जिया ने रूसी शान्ति रक्षकों को हमलावर सेना बताया और इसी बहाने वह सोवियत संघ के टूटने के बाद बने स्वतन्त्र देशों के संगठन से अलग हो गया। अमरीकी सेना के वायुयान ने इराक में तैनात 800 जॉर्जियाई सैनिकों को 11 टन माल के साथ जॉर्जिया पहुंचाया। युक्रेन ने कहा कि वह काला सागर में गस्त कर रहे रूसी लड़ाकू जहाजों को वापस उनके अड्डे, सेवास्तोपोल तक नहीं लौटने देगा। रूस ने बाकू से तिब्लिसी, सेहान, दक्षिण काकेसस, सुरसा और नोवोरोसियस्क होते हुए जाने वाली पाइप लाइनों से यूरोप और अमरीका की तेल आपूर्ति

रोक देने की धमकी दी।

काला सागर में जॉर्जियाई युद्ध के चलते तनाव के कारण रूस अलग-थलग पड़ गया। जी-8 के 7 देशों ने रूस द्वारा जॉर्जिया पर कब्जा बनाये रखने की निन्दा की। चीन और अन्य एशियाई सहयोगियों ने भी इस मुद्दे पर रूस का सहयोग नहीं किया। दो अमेरिकी लड़ाकू जहाज पहले से ही जॉर्जिया के सहयोग के लिए काला सागर में तैनात हैं। वाशिंगटन ने अपनी छटी नौ सेना के ध्वजपोत को जॉर्जिया की मदद के लिए उस क्षेत्र में जाने की आज्ञा दी है।

रूस और जॉर्जिया के बीच संघर्ष का लम्बा इतिहास रहा है। हालिया मुद्दों को समझने के लिए इस इतिहास पर एक सरसरी नजर डालना जरूरी है। 1922 से सोवियत संघ का हिस्सा रहा जॉर्जिया 1991 में अलग देश बन गया। इस विघटन ने ही रूस की सीमाओं पर कई विवादों को जन्म दिया। दक्षिण ओसेतिया एक समय जॉर्जिया का हिस्सा था। 1992 में दो बार जनमत संग्रह के बाद स्वायत्त हो गया। 24 जून 1992 में “सोची समझौते” के तहत जॉर्जिया और दक्षिण ओसेतिया के बीच युद्ध विराम हो गया। इसके साथ ही इस समझौते में दक्षिण ओसेतिया की राजधानी तस्किनवली के आस-पास और दक्षिण ओसेतिया की सीमाओं से लगे “सुरक्षा गलियारे” को परिभाषित किया गया। इन क्षेत्रों की सुरक्षा के लिए संयुक्त नियन्त्रण कमीशन और संयुक्त शान्तिरक्षक सैन्य समूह बनाये गये। शान्ति रक्षक सैन्य समूह में जॉर्जिया, रूस और रूस के उत्तरी ओसेतिया स्वायत्त गणराज्य के शान्ति रक्षक सम्मिलित हैं। इस समझौते में उसे निर्धारित सीमा रेखा को हिफाजत का जिम्मा सौंपा गया था। इस तरह जॉर्जिया ने दक्षिण ओसेतिया पर अचानक हमला करके रूस को चुनौती दी थी।

इस संघर्ष की जमीन तैयार करने में जॉर्जिया और अमरीका के सम्बन्धों तथा इस क्षेत्र में अमरीका की गहरी दिलचस्पी महत्वपूर्ण कारक रहे हैं। 1990 में पूर्व युगोस्लाविया और सोवियत रूस के विघटन से पैदा हुई परिस्थिति का फायदा उठाते हुए अमरीका ने बाल्कन क्षेत्र में प्रभुत्व स्थापित करना शुरू कर दिया। इसने रोमानिया और बुल्गारिया में नाटो के सैनिक अड्डे स्थापित करके इस क्षेत्र को अतिसंवेदनशील बना दिया। सार्विया से टूट कर अलग हुए कोसोवो की पैदाइश से ही दक्षिण काकेसस क्षेत्र में संकट गहराने लगा था क्योंकि कोसोवो की स्वतन्त्रता

भी अमरीका के साम्राज्यवादी रणनीति का अंग था। काला सागर क्षेत्र में जुलाई में नाटो ने यूक्रेन के साथ पहला सैन्य अभ्यास संचालित किया। अमरीका ने पाँच साल पहले 2003 में “गुलाबी क्रान्ति” के जरिये सकाशिवली को वहाँ सत्ता में बैठाया था। अमरीका, तुर्की और इजराइल ने जॉर्जिया की सेनाओं को प्रशिक्षण दिया तथा अमरीका और नाटो के दूसरे देशों ने जॉर्जिया को सैकड़ों टैंक, बख्तरबन्द गाड़ियाँ, लड़ाकू वायुयान और हेलीकॉप्टर देकर उसे सिर से पैर तक हथियारों से लाद दिया था। जॉर्ज बुश ने जॉर्जिया को काकेसस क्षेत्र में अपना रणनीतिक साझेदार घोषित किया जिस पर अमल करते हुए सकाशिवली ने इराक और अफगानिस्तान में अपनी सेना भेजकर अमरीका के साम्राज्यवादी मंसुबों में सहयोग किया। अभी भी जॉर्जिया को नाटो में शामिल करने को लेकर साम्राज्यवादियों के बीच विवाद बना हुआ है। अमरीका इस मुद्दे पर जर्मनी, फ्रांस, स्पेन, यूनान और इटली का विरोध झेल रहा है।

जॉर्जिया और रूस के बीच इस टकराव को साम्राज्यवादी शक्तियों के आपसी टकराव से अलग करके नहीं समझा जा सकता। यह सर्वज्ञात सच्चाई है कि युद्ध राजनीति का ही जारी रूप है। पूँजीवाद लाखों-करोड़ों निर्दोष नागरिकों की हत्या करके, युद्ध के जरिये अपने असमाधेय रोगों के इलाज का प्रयास करता है। युद्ध आर्थिक संकट का राजनीतिक पहलू और पूँजीवाद के अन्तर्विरोधों की तीव्रतम अभिव्यक्ति होता है। जॉर्जिया ने अपने किसी निजी झगड़े या दुश्मनी या सनक के कारण रूस पर हमला नहीं किया था। अमरीका की साम्राज्यवादी नीति इसमें मुख्य रूप से उत्तरदायी रही है। जॉर्जिया और रूस की सैनिक क्षमता में इतना भारी अन्तर है कि वह रूस से टकराने की बात सपनों में भी नहीं सोच सकता। रूस के पास 6,41,000 सैनिक हैं, जबकि जॉर्जिया के पास मात्र 26,900 सैनिक हैं। रूस के पास 6,717 टैंक, 6,388 बख्तरबन्द गाड़ियाँ और लड़ाकू वायुयान हैं जिसके मुकाबले जॉर्जिया के पास मात्र 82 टैंक, 139 बख्तरबन्द गाड़ियाँ और सात लड़ाकू विमान हैं। तब आखिर किस बात ने जॉर्जियाई राष्ट्रपति सकाशिवली को दक्षिण ओसेतिया पर आक्रमण के लिए उकसाया था, इसे समझना मुश्किल नहीं है।

तुर्कमेनिस्तान का पुरा गैस उत्पादन रूस सरकार द्वारा नियन्त्रित विशाल ऊर्जा कम्पनी “गाजप्रोम” को निर्यात होता है। रूस को मिली इस सफलता से अमरीका की ऊर्जा रणनीति को बहुत गहरा धक्का लगा है, क्योंकि अमरीका हर कीमत पर दुनिया के तेल क्षेत्र पर अपना प्रमुख स्थापित करना चाहता है। मास्को ने इसी तरह का प्रस्ताव अजरबैजान को भी दिया है कि वह किसी भी पश्चिमी देश से अधिक दाम पर अजरबैजान की पूरी गैस ऊर्जा खरीदेगा। रूसी पाइप लाइन से कजाकिस्तान

के तेल का निर्यात होता है। लेकिन रूस और कजाकिस्तान की दोस्ती तोड़ने में अमरीका असफल रहा है। रूसी ऊर्जा कूटनीति की सफलता से इस क्षेत्र में 2005 से अमरीका द्वारा चलाये जा रहे बाकू-तिब्लिसी-सेहान पाइप लाइन पर प्रश्न चिह्न लग जाता है। बाल्कन और दक्षिणी यूरोपीय देशों को ऊर्जा आपूर्ति के लिए बनायी गयी रूस की दक्षिणी स्ट्रीम परियोजना की प्रगति और अमरीका द्वारा प्रायोजित नैबूका गैस पाइप लाइन की असफलता ने वाशिंगटन की बौखलाहट को बढ़ा दिया है। भयंकर मन्दी से परेशान अमरीका युद्ध शुरू करके दूसरों की सम्पत्ति को लूटने के सिवा और कर ही क्या सकता है? ये ही घटनाएँ युद्ध के पीछे महत्त्वपूर्ण आर्थिक कारण हैं। कुछ लोग कहेंगे कि पूँजीपति अपनी दौलत युद्ध में क्यों बर्बाद करेंगे? ऐसा इसलिए कि अपनी दौलत को लगातार बढ़ाने की हवस में कोई भी व्यवधान आने पर वे अन्ततः युद्ध का सहारा लेते हैं। कहावत है कि ‘गीदड़ की मौत आती है तो वह शहर की ओर भागता है।’ लाख बचने की कोशिश करे लेकिन युद्ध तो साम्राज्यवाद की सहजात बीमारी है जो उसे धिनौना, नंगा और मरणासन्न बनाती है।

आर्थिक कारण के अलावा कुछ तत्कालिक राजनीतिक कारण भी हैं, जिन्होंने जॉर्जिया को उकसाने में मदद दी है। सकाशिवली को अमरीकी राष्ट्रपति चुनाव की बाजी में दाँव की तरह प्रयोग किया गया है। चुनाव से पहले रूस पर सशस्त्र दुःसाहस के द्वारा उसने डेमोक्रेटिक उम्मीदवार बराक ओबामा के खिलाफ और रिपब्लिकन उम्मीदवार जॉन मैकेन के पक्ष में हवा बनाने में सहयोग किया है। मैकेन ने रूस द्वारा जॉर्जियाई राज्य के विनाश का मुद्दा उठाकर बड़ी ही कुटिलता से चुनाव में वापसी की कोशिश की है। सकाशिवली और अमरीकी रिपब्लिकनों के बीच साँठ-गाँठ कोई नयी बात नहीं सकाशिवली ने मैकेन के विदेश नीति सलाहकार को अमरीकी काँग्रेस में जॉर्जिया सम्बन्धी नीति के लिए लॉबी बनाने और ‘गुलाबी क्रान्ति’ में 20 लाख डालर की छूट हासिल करने के लिए किराये पर लिया था।

घटनाओं से साफ है कि इस युद्ध के पीछे अमरीका और उसके संगठन नाटो का हाथ है जिसके जरिये अमरीका रूस के खिलाफ मोर्चेबन्दी कर रहा है। यहाँ तक कि यूक्रेन, बाल्टिक प्रदेश और काकेसस क्षेत्र के लगभग ढाई तीन हजार भाड़े के सिपाही अमरीकी निर्देश पर जॉर्जिया की तरफ से लड़ रहे थे। इस युद्ध से अब अमरीका को काकेसस क्षेत्र में जॉर्जिया और यूक्रेन को नाटो में शामिल करने का मजबूत आधार मिल गया है। जॉर्जिया के नाटो में सम्मिलित होने के बाद अमरीका द्वारा रूस सीमाओं की घेरेबन्दी मजबूत हो जायेगी। राष्ट्रपति सकाशिवली की सरकार जॉर्जिया में अपने कुशासन, भ्रष्टाचार और धनलोलुपता

के कारण काफी बदनाम हो चुकी थी। जिस देश की सरकार साम्राज्यवादी अमरीका द्वारा प्रायोजित 'गुलाबी क्रान्ति' की उपज हो, उसे वहाँ की जनता कितना पसन्द कर सकती है? और जब कोई शासक अपनी नीतियों में असफल होने लगता है, जनता के खिलाफ काम करने के चलते उसकी बदनामी बढ़ती है तो अपनी जनता का ध्यान बँटाने और उनमें उन्माद भरने के लिए वह युद्ध का सहारा लेता है। इसी कोशिश में सकाशिवली ने दक्षिण ओसेतिया पर आक्रमण करके एक तीर से दो शिकार करने की कोशिश की थी। जॉर्जिया की सेना को अमरीकी प्रशिक्षण दिया जाना और हाल के वर्षों में उसमें 30 गुना बढ़ोत्तरी करना रूस के लिए चिन्ता का विषय है। रूस द्वारा प्रस्तावित तनाव के शान्तिपूर्ण समाधान पर तिब्बिती ने ध्यान नहीं दिया, बल्कि कुछ दिनों से युद्ध की गुप-चुप तैयारियाँ भी करता रहा। अमरीका द्वारा जॉर्जिया को सैन्य अभ्यास के लिए आर्थिक संसाधन उपलब्ध कराये जाने और उन्हीं दिनों अमरीकी विदेश मन्त्री कोन्डलिसा राइस के तिब्बिती दौरे को इसी सिलसिले की कड़ी के रूप में देखा गया।

साम्राज्यवादी अमरीका यदि दुनिया की मेहनतकश जनता का सबसे बड़ा दुश्मन है तो वहीं रूस भी कोई दूध का धुला नहीं है। गोरी शहर पर बम गिराकर साम्राज्यवादी रूस भी निर्दोष नागरिकों की हत्या करने में पीछे नहीं रहा। जॉर्जियाई हमले का जवाब देने के दौरान उसकी सेना ने उसके कुछ हिस्सों पर कब्जा भी कर लिया है। रूस की शान्तिदूत जैसी वर्तमान छवि इसलिए बनी कि सोवियत संघ के विघटन के बाद वह आर्थिक रूप से कमजोर हो गया था और दुनिया की सैनिक गतिविधियों में पृष्ठभूमि में चला गया था। लेकिन पिछले कुछ सालों में रूस ने अपनी आर्थिक स्थिति मजबूत की है और राजनैतिक दबूपन की प्रवृत्ति छोड़कर धीरे-धीरे उठ खड़ा हो रहा है। आखिर एक पूर्व साम्राज्यवादी देश कब तक शान्ति से बैठा रह सकता है? बौखलाए हुए यूरोपीय देशों की धमकी का भी रूस पर उल्टा असर हुआ है। यूरोपीय यूनियन के देश जो अपनी ऊर्जा की खपत का 40 फीसदी रूस से लेते हैं, रूस के ऊपर युद्ध-विराम के लिए दबाव बनाने में असफल रहे हैं। दूसरी ओर बनेजुएला ने भी, जो खुद एक तेल उत्पादक देश है, इस मामले में रूस को समर्थन देते हुए कहा है कि इस घटना के बाद पोस्ट कोल्डवार के युग का अन्त हो गया है। हालाँकि इस तरह का निष्कर्ष निकालना अभी जल्दीबाजी होगी। "वाशिंगटन आम सहमति" पर आधारित इस नयी आर्थिक विश्वव्यवस्था के अन्दर रूस और अमरीका दोनों अपने-अपने हितों और सम्भावनाओं के लिए जी-जान से प्रयासरत हैं, लेकिन फिलहाल कोई भी पक्ष टकराव नहीं चाहता।

हाल ही में पूर्व इजरायली विदेश मन्त्री और इतिहासकार

श्लोमो बेन-अमी ने जार्जिया और रूस के टकराव पर एक सटीक और सामयिक टिप्पणी की है "अमरीका के साथ निष्कपट रणनीतिक साझेदारी कायम करने का प्रयास करना रूस के लिए जरूरी है और अमरीका को भी यह समझ लेना जरूरी है कि अगर रूस को बहिष्कृत और उपेक्षित किया गया तो वह दुनिया का सबसे बड़ा रंग में भंग डालने वाला साबित हो सकता है। शीत युद्ध की समाप्ति के समय से ही अमरीका द्वारा उपेक्षित और अपमानित, रूस को नयी वैश्विक व्यवस्था के साथ एकीकरण की जरूरत है जो एक उभरती हुई शक्ति के रूप में उसके हितों का सम्मान करता है। उसे पश्चिम-विरोधी टकराव की रणनीति अपनाएने की जरूरत नहीं है।"

अमरीका की दीर्घकालिक मन्दी का कोढ़ इस साल फूट पड़ा है जिसकी बौखलाहट आतंकवाद रोकने के नाम पर दुनिया की जनता का दमन और रूस जैसे देशों की नाटो द्वारा घेरेबन्दी के रूप में प्रकट हो रही है। दूसरी तरफ रूस और चीन की आर्थिक स्थिति धीरे-धीरे सुदृढ़ होते जाने के कारण इनकी साम्राज्यवादी महत्वाकांक्षाएँ बढ़नी लाजिमी हैं। लेकिन अमरीका यह अच्छी तरह जानता है कि अभी इनमें इतना दम नहीं कि उसे खुली चुनौती दे सकें। इसीलिए वह उद्धृत होकर पूरी दुनिया में घेरेबन्दी, धौंस-पट्टी और मनमानी कर रहा है।

आमतौर पर जब साम्राज्यवादी देशों के बीच का आपसी कलह शान्तिपूर्ण तरीकों से हल नहीं हो पाता तो वे युद्ध का सहारा लेते हैं। यह सीमित, क्षेत्रीय और स्थानीय युद्ध के रूप में भी होता है और बड़े रणक्षेत्र में, बड़ी खेमेबन्धियों के साथ बड़े पैमाने के युद्ध विश्व युद्ध में भी बदल जाता है। आज के दौर में साम्राज्यवादियों के बीच प्रत्यक्ष टकराव को टालने की प्रवृत्ति ही प्रधान है। लेकिन जब तक साम्राज्यवाद रहेगा तब तक किसी न किसी रूप में युद्ध भी होगा। युद्ध चाहे जैसा भी हो यह मानवता के खिलाफ अधन्यतम अपराध है।

बम घरों पर गिरे या सरहद पर, रुहे तामीर जख्म खाती है, खेत अपने जलें कि औरों के, जीस्त फाकों से तिलमिलाती है।

जंग तो खुद ही एक मसअला है, जंग क्या मसअलों का हल देगी, आग और खून आज बख्शोगी, भूख और एहतियाज, कल देगी।

आओ इस तीराबख्त दुनिया में, फिक्र की रोशनी को आम करें, अमन को जिनसे तबकियत पहुँचे, ऐसी जंगों का एहतमाम करें।

साहिर लुधियानवी

(शब्दार्थ रुहे तामीर=निर्माण की आत्मा, जीस्त=जीवन, मसअला=समस्या, एहतियाज=आवश्यकताएँ, तीराबख्त=भाग्यहीन, फिक्र=विचार, तबकियत=बल, एहतमाम=प्रबन्ध।)

□

दुनिया के तेल-बाजार में अफरातफरी

□ अरविन्द

हाल के वर्षों में तेल की कीमतों में जो उछाल आया है उसने पिछले सारे रेकॉर्ड तोड़ दिये हैं। अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में जिस कच्चे तेल की कीमत 1998 में केवल 18 डालर प्रति बैरल थी वह इस साल के जुलाई में 147 डालर प्रति बैरल हो गयी, यानी 10 वर्षों में ही 8 गुणा से भी ज्यादा की बढ़ोत्तरी! केवल पिछले डेढ़ साल को ही लिया जाये तो कीमतों में 133 फीसदी की वृद्धि हुई है।

तेल की कीमतों में वृद्धि ने आम उपभोग की हर चीज को मँहगा कर दिया है।

कुछ घुटे हुए अर्थशास्त्री और राजनीतिज्ञ तेल की कीमतों में वृद्धि का दोष तेल उत्पादक देशों के संगठन ओपेक (OPEC) को और ईरान तथा वेनेजुएला जैसे देशों को दे रहे हैं। लेकिन सच यह है कि तेल की कीमतों का नियन्त्रण अब ओपेक के हाथों में नहीं रहा। अब वह अमरीका के वॉलस्ट्रीट से नियन्त्रित हो रहा है, जहाँ तेल पर आन्धाधुन्ध सट्टेबाजी चल रही है। इस खेल में गोल्डमैन सैक्स, मॉर्गन स्टैनले, सिटीबैंक, जे.पी.मॉर्गन चेज और इसी तरह की वित्तीय क्षेत्र की दैत्याकार कम्पनियाँ लिप्त हैं।

इन दानवी वित्तीय कम्पनियों ने खुद अमरीका में ऐसा संकट पैदा कर दिया कि अमरीकी अर्थव्यवस्था डॉवाडोल होने लगी। परिणामस्वरूप सीनेट की घरेलू सुरक्षा सम्बन्धी कमेटी को इसकी जाँच करवानी पड़ी। सुनवाई के दौरान अमरीकी फेडरल रिजर्व के तत्कालीन चेयरमैन और साम्राज्यवादी व्यवस्था के धुरन्धर खिलाड़ी एलेन ग्रीनस्पान को स्वीकार करना पड़ा कि तेल की कीमतें बढ़ाने में सटोरियों का हाथ है।

कुछ भोले लोग माँग-आपूर्ति के चश्मे से ही इस संकट को देखने के आदी हैं। उनका यह मानना है कि तेल की माँग बढ़ने और उसके अनुरूप आपूर्ति न होने के कारण कीमतों में उछाल आया है। यह सच है कि तेल की माँग में लगातार बढ़ोत्तरी हुई है। लेकिन आपूर्ति उससे कहीं ज्यादा है। 27 जून 2006 को प्रस्तुत अपनी रिपोर्ट में उपर्युक्त जाँच समिति ने बताया कि अमरीका का तेल भण्डार पिछले 8 वर्षों में सबसे ऊँचे स्तर पर है। इसी तरह, ओ.ई.सी.डी. देशों का कुल तेल भण्डार भी पिछले 20 वर्षों में सबसे ऊँचे स्तर पर है। रिपोर्ट यह भी बताती है कि पिछले कई वर्षों से माँग की तुलना में आपूर्ति ज्यादा रही है।

तो फिर कीमतों में वृद्धि हुई कैसे?

अमरीकी सीनेट की जाँच समिति ने अपनी रिपोर्ट में बताया है कि तेल की कीमतों में वृद्धि का कारण सट्टेबाजी है।

लेकिन यह जानना जरूरी है कि सट्टेबाजी इस हद तक कैसे पहुँच गयी कि पूरी दुनिया में तेल संकट की स्थिति पैदा हो गयी।

आधुनिक फ्यूचर्स की सट्टेबाजी की शुरुआत 1970 के दशक के प्रारम्भ में मुद्राओं की खरीद-बिक्री से हुई, जब अमरीकी अर्थव्यवस्था इतनी कमजोर हो गयी थी कि डालर के बदले सोना नहीं दे सकती थी। इस तरह, डालर और सोने की सगाई टूट गयी थी। थोड़े ही समय बाद पूँजीपतियों के दबाव में तत्कालीन राष्ट्रपति निक्सन ने प्राकृतिक गैस के फ्यूचर्स की सट्टेबाजी की भी इजाजत दे दी। एनरॉन कम्पनी की स्थापना उसी दौरान हुई और उसने प्राकृतिक गैस के फ्यूचर्स का कारोबार तीन-तिकड़म द्वारा अपने नियन्त्रण में ले लिया। थोड़ा और समय बीता तो गैस के साथ-साथ तेल के फ्यूचर्स का कारोबार भी एनरॉन के हाथ में आ गया और आगे चलकर एनरॉन ऑन लाइन ने इस क्षेत्र में वर्चस्व स्थापित कर लिया। बाद में एनरॉन ने तरह-तरह के फ्यूचर्स की सट्टेबाजी करनी शुरू कर दी, जैसे इमारती लकड़ी, मौसम का उतार-चढ़ाव, इत्यादि।

तेल और गैस की सट्टेबाजी में धीरे-धीरे अन्य कम्पनियाँ और वित्तदाता भी शामिल होते गये। आज स्थिति यह है कि पूरी दुनिया के तेल और गैस का बाजार इन्हीं वित्तीय कम्पनियों द्वारा नियन्त्रित होता है तथा इसमें ले-देकर केवल चार तेल कम्पनियाँ ही भागीदार हैं। परिणाम यह कि तेल और गैस की कीमतों का माँग और आपूर्ति से कोई सम्बन्ध नहीं रह गया है।

तेल बाजार को नियन्त्रित करने वाले दुनिया-भर में केवल दो प्रमुख स्टॉक एक्सचेंज हैं न्यूयार्क मर्केण्टाइल एक्सचेंज और लन्दन का इण्टर कॉण्टिनेण्टल एक्सचेंज। दुबई मर्केण्टाइल एक्सचेंज नवीनतम एक्सचेंज है, जो थोड़ी-बहुत भूमिका निभाता है, लेकिन यह खुद अमरीका के ही नियन्त्रण में है। न्यूयार्क मर्केण्टाइल एक्सचेंज के अध्यक्ष जेम्स न्यूसोम तथा अन्य कई ब्रिटिश और अमरीकी इसके बोर्ड के महत्वपूर्ण पदों पर आसीन हैं।

कच्चे तेल (क्रूड आयल) की दो खास किस्मों में वेस्ट टेक्सास इण्टरमीडिएट (डब्ल्यू. टी. आई.) के फ्यूचर्स का कारोबार न्यूयार्क से और नार्थ सी ब्रेण्ट के फ्यूचर्स का कारोबार लन्दन से होता रहा है। लेकिन दुनिया के ज्यादातर देशों में ब्रेण्ट की कीमतें

ही तेल के व्यापार के लिये प्रयोग में लायी जाती रही हैं। अतः इस मामले में लन्दन शेयर बाजार का महत्त्व न्यूयार्क से ज्यादा रहा है।

कानून के मुताबिक न्यूयार्क एक्सचेंज में किये गये हर कारोबार के बारे में अमरीका के कमोडिटी फ्यूचर्स ट्रेडिंग कमीशन (सी.एफ.टी.सी.) को सूचित करना जरूरी होता था। इस माध्यम से सी.एफ.टी.सी. हर कारोबारी पर नजर रखती थी। यही बात फ्यूचर्स के कारोबारियों को नागवार गुजरती थी। अतः इन कारोबारियों ने एक नया वित्तीय उपकरण ईजाद कर लिया “फ्यूचर्स लुक-लाइक” या “फ्यूचरनुमा।” जहाँ फ्यूचर्स के हर कारोबार के बारे में सी.एफ.टी.सी. को जानकारी होती है, इसलिए वह नियन्त्रित कारोबार होता है, वहीं “फ्यूचर्स लुक-लाइक” के लिए सी.एफ.टी.सी. को कोई सूचना देना जरूर नहीं होता है और इसका कारोबार बेलगाम होता है।

तेल के फ्यूचर्स को सरकारी नियन्त्रण से “मुक्त” कराने के लिये एनरॉन ने तरह-तरह की लॉबी बनायी। इनके प्रभाव में सन् 2000 में अमरीकी कांग्रेस ने एक कानून बनाकर “फ्यूचर्स लुक-लाइक” को सी.एफ.टी.सी. के नियन्त्रण से मुक्ति दे दी।

उधर 1999 में ही लन्दन के फ्यूचर्स बाजार को अमरीका में कम्प्यूटर टर्मिनल खोलने की इजाजत दे दी गयी थी। लेकिन इसके माध्यम से अमरीका में केवल यूरोपीय ब्रेण्ट आयल के फ्यूचर्स का ही कारोबार हो सकता था, अमरीकी तेल डब्ल्यू. टी.आई. का नहीं।

समय बीता और एनरॉन कम्पनी दिवालिया हो गयी। लेकिन खेल यहीं खत्म नहीं हुआ। जनवरी 2006 में बुश ने लन्दन के फ्यूचर्स बाजार के अमरीका स्थित कम्प्यूटर टर्मिनलों द्वारा अब अमरीकी तेल डब्ल्यू.टी.आई. के फ्यूचर्स के कारोबार की भी इजाजत दे दी। फिर क्या था! शुरु हो गया सटोरियों का खुला खेल। और अब तेल तथा गैस का सारा नियन्त्रण पूरी तरह सटोरियों के हाथ में चला गया।

ऐसी स्थिति किसी भी देश की अर्थव्यवस्था को खतरे में डाल सकती है। कुछ ही वर्षों पहले रूस के तेल का नियन्त्रण वहाँ के एक तेल-व्यापारी के हाथ में चला गया और देश की स्थिति गम्भीर हो गयी। राष्ट्रपति पुतिन ने आनन-फानन में उस कम्पनी का राष्ट्रीकरण कर दिया और उस उद्योगपति को जेल में डाल दिया।

एनरॉन के तिकड़मों से जब तेल के “फ्यूचर्स लुक-लाइक” का कारोबार शुरु हो गया तो सटोरियों ने तेल की कीमतें मनमाने ढंग से चढ़ानी शुरु कर दीं। 2006 के बुश के निर्णय के बाद तो कीमतें आसमान छेद कर पार जाने लगीं।

आज स्थिति यह है कि लन्दन बाजार का बहुत बड़ा हिस्सा अमरीकी सटोरियों की मिल्कियत है और उन पर इन्हीं सटोरिया कम्पनियों का नियन्त्रण है। इस तरह, अब अमरीकी सटोरियों

का दुनिया-भर के तेल के बहुत बड़े हिस्से पर नियन्त्रण स्थापित हो गया है। अपना नफा-नुकसान देखकर ये सटोरिये तेल की कीमतें कभी ऊपर चढ़ाते हैं तो कभी नीचे गिराते हैं। अभी हाल-फिलहाल, सितम्बर 2008 के पूर्वार्द्ध में कच्चे तेल की कीमतें गिरकर 100 डालर प्रति बैरल से भी नीचे आ गयी तो इसका एक ही कारण है कि अब कीमतें घटाने से सटोरियों को ज्यादा मुनाफा मिलना था। यही है शेयर बाजार का उलट-फेर।

किसी भी उन्नत अर्थव्यवस्था के लिए, खासतौर पर विकसित पूँजीवादी अर्थव्यवस्था के लिए ऊर्जा का महत्त्व दूसरे सभी संसाधनों से कहीं ज्यादा होता है। तेल पूँजीवादी-साम्राज्यवादी अर्थव्यवस्था की धमनियों में बहने वाले खून के समान है। इसीलिए आज साम्राज्यवादी देशों की घरेलू नीति और विदेश नीति के केन्द्र में तेल ही है। अफगानिस्तान और इराक पर अमरीकी हमला, वेनेजुएला और ईरान के साथ तनातनी तथा जार्जिया, कैस्पियन सागर के तटवर्ती क्षेत्र, पूर्वी तिमोर और अण्टार्कटिका की सरगर्मियों को इसी रोशनी में समझा जा सकता है। तेल के दम पर ही रूस फिर से उठ खड़ा हो रहा है और तेल के भण्डारों पर कब्जे के लिये ही अमरीका पूरी दुनिया पर वर्चस्व कायम करने का मनसूबा बनाता रहा है।

इस प्रकार तेल का स्रोत और तेल का बाजार साम्राज्यवादी चालों को भी निर्धारित करता दिखाई दे रहा है।

धनी देश एक जमाने से ही गरीब देशों को अपने नियन्त्रण में रखते आये हैं। इस नियन्त्रण का अलग-अलग दौर में अलग-अलग स्वरूप रहा है पहले प्रत्यक्ष नियन्त्रण फिर कठपुतली सत्ताओं के माध्यम से नियन्त्रण और आज मुख्यतः साम्राज्यवादी पूँजी के माध्यम से नियन्त्रण। वर्तमान दौर साम्राज्यवादी पूँजी के माध्यम से, यानी आर्थिक नियन्त्रण का दौर है। इस दौर की एक विशेषता यह भी है कि पूँजी उत्पादन से निकलकर सट्टेबाजी की ओर भागती है। इस तरह, पूँजी अब सटोरिया पूँजी में बदल जाती है और पूरी तरह से परोपजीवी बन जाती है। तेल संकट ने उत्पादक पूँजी को तेज गति से सटोरिया पूँजी में तब्दील कर देने में मदद पहुँचायी है। इस घटना ने साम्राज्यवादी देशों का गरीब देशों पर शिकंजा और ज्यादा कस दिया है। गरीब देशों का दोहन पहले से बहुत ज्यादा बढ़ गया है।

तेल की कीमतों में वृद्धि छोटे उद्यमियों और आम किसानों की कमर तोड़ देती है सिंचाई, जुताई और खेती के दूसरे काम महँगे हो जाते हैं, खाद-बीज-कीटनाशक की कीमतें बढ़ती जाती हैं, बिजली महँगी हो जाती है...। इस तरह, खेती की लागत बढ़ने और आमदनी घटने के चलते उसके और उसके परिवार का जीवन स्तर और भी नीचे चला जाता है।

देश के भीतर तेल और गैस की कीमतों का प्रभाव उसका सीधे उपभोग करने वालों के साथ-साथ आम लोगों की जिन्दगी से जुड़ी चीजों की कीमतों में वृद्धि के रूप में भी सामने आया है।

उत्पादन, रख-रखाव और दुलाई का खर्च बढ़ने के चलते तेल, साबुन, अनाज और अन्य जरूरी चीजों की कीमतें तेजी से बढ़ी हैं। सरकारी आँकड़ों बताते हैं कि महँगाई 12 फीसदी का आँकड़ा पार कर गयी है, जिसका सीधा मतलब है कमरतोड़ महँगाई।

इस महँगाई से थोड़ी राहत मिल सकती थी, यदि मेहनतकश वर्गों और जनसाधारण की तनख्वाहों और मजदूरी में भी बढ़ोत्तरी होती। लेकिन सरकार और अन्तरराष्ट्रीय संस्थाओं ने उल्टी गंगा बहा रखी है। उनकी नीति है कि थोड़ा-थोड़ा पैसा ज्यादा लोगों पर यानी देश की आम जनता को राहत देने पर खर्च करने के बजाय ज्यादा पैसा थोड़े-से सम्पत्तिशाली ऊपरी तबकों पर खर्च किया जाये। यह एक ही तरीके से सम्भव है मेहनतकश वर्गों का ज्यादा से ज्यादा शोषण करके उस लूट के माल को

ऊपरी तबकों की तिजोरी में डाल दिया जाये। इसीलिये महँगाई बढ़ने के साथ-साथ ऊपरी तबकों की आय में भी कई गुणा की वृद्धि देखने में आयी है। अतः उन पर महँगाई का कोई असर नहीं दिखायी देता। तेल की कीमतों में वृद्धि उनकी विलासिता में कोई खलल नहीं पैदा करती। महँगाई का बोझ सबसे गरीब तबकों को ही सबसे अधिक मार रहा है।

साम्राज्यवादी वैश्वीकरण के वर्तमान दौर में साम्राज्यवादी देशों का संकट विश्वव्यापी होकर दुनिया के हर देश और हर देश की गरीब जनता को अपनी चपेट में ले लेता है। तेल संकट इसी बात की पुष्टि करता है। इससे निजात पाना है तो हमें इस लूट और शोषण पर आधारित पूँजीवादी-साम्राज्यवादी व्यवस्था के विनाश की तैयारी में जी-जान से जुट जाना होगा। □

आप्रवासी भारतीयों द्वारा मनीआर्डर

पिछले कुछ वर्षों से भारत में प्रत्यक्ष विदेशी निवेश और संस्थागत निवेश दोनों की तुलना में विदेशों में कमाने वाले आप्रवासी भारतीयों द्वारा भेजे गये मनीआर्डर में भारी इजाफा हुआ है। सरकार जिस विदेशी मुद्रा भण्डार की प्रचुरता की शेखी बघारती है, उसमें विदेशों में कमाने वाले भारतीय श्रमिकों की बड़ी भूमिका है। भारतीय रिजर्व बैंक की एक रिपोर्ट के अनुसार विदेशों में कमाने वाले लोगों से आने वाला पैसा, जो 1990-91 में महज 2.01 अरब डालर था, 2006-07 में 29 अरब डालर हो गया। पिछली भाजपा गठबन्धन सरकार ने तो मात्र 100 अरब डालर का विदेशी मुद्रा भण्डार जमा हो जाने पर ही देशवासियों को “फील गुड” कराने के लिए 4 अरब डालर खर्च कर दिया था कि भारत का उदय हो गया है, कि देखो, भारत दुनिया के पटल पर कैसे चमक रहा है।

1990 के पहले ऐसी सम्भावनाएँ कम थीं कि बड़ी नौकरियों में मोटी तनख्वाह पर भारत के ज्यादा लोग विदेश जा सकें। 1990 के पहले आमतौर पर अर्द्ध कुशल और अकुशल मजदूर ही बड़ी संख्या में खाड़ी के देशों में कमाने जाते थे। 1990 के दशक के प्रारम्भ में रूसी खेमे के विघटन और एकध्रुवीय विश्वव्यवस्था के अस्तित्व में आने और साथ ही सूचना प्रौद्योगिकी के विकास ने नये तरह के कामों का अवसर प्रदान किया। तभी से कुशल युवाओं ने अमरीका की राह पकड़नी शुरू की। आज दुनियाभर में बड़ी संख्या में भारतीय इंजीनियर फैले हुए हैं।

लगभग 7.5 लाख भारतीय श्रमिक हर साल विदेशों में काम करने जाते हैं। उदारीकरण की नीतियों के चलते भारी पैमाने पर मजदूर बेरोजगार हो गये। पूर्वी उत्तर प्रदेश, बिहार, झारखण्ड, छत्तीसगढ़ आदि इलाकों से जो मजदूर दिल्ली, मुम्बई,

गुजरात, पंजाब के कारखानों में काम करने जाया करते थे, अब वहाँ उनके लिए काम का अवसर काफी कम हो गया। इसलिए ऐसे मजदूर भी किसी तरह जुगाड़ करके छोटे-मोटे काम की तलाश में विदेश जाने लगे। विदेश जाने वालों में केरल, पंजाब, तमिलनाडु, आन्ध्र प्रदेश, उत्तर प्रदेश और गुजरात सबसे आगे हैं। सेन्टर फार डेवलपमेण्ट स्टडी, त्रिवेन्द्रम के एक अध्ययन के अनुसार 2007 में अकेले केरल में 24,525 करोड़ रुपये विदेशों से कमाकर भेजा गया। पूरे देश में विदेशों में काम करने वालों ने 2000-01 में 13 अरब डालर भेजा था, जो 2005-06 में बढ़कर 26 अरब डालर, यानी दोगुना हो गया। भारत में प्रत्यक्ष विदेशी निवेश और संस्थागत निवेश, दोनों मिलाकर 2005-06 में मात्र 14.5 अरब डालर ही रहा। इसकी तुलना में विदेशों से कमाकर मनीआर्डर भेजने वालों की रकम काफी ज्यादा है।

यह तथ्य वाकई चौंकाने वाला है। भारत सरकार के खर्च पर अच्छी से अच्छी शिक्षा पाकर अधिकांश युवा विदेशों में उन कम्पनियों की सेवा में चले जाते हैं, जिनकी कारगुजारियों के चलते भारत के 77 प्रतिशत लोगों को 20 रुपया रोजाना से भी कम पर गुजारा करना पड़ता है। अगर भारत सरकार इनकी प्रतिभा और कुशल-अर्द्धकुशल मजदूरों के श्रम का इस्तेमाल अपने देश में ही करने की योजना बनाती तो विदेशों से जितना मनीआर्डर वे भेजते हैं, उसकी तुलना में कहीं ज्यादा कमाई वे यहीं कर देते। अपने देश में उत्पादन और रोजगार के नये अवसर पैदा करने वाली योजनाएँ बनाने में अक्षम हमारे देश के शासक अब विदेशों में काम करके मनीआर्डर भेजने वालों का गुणगान करने में जुटे हैं। इससे उनकी नीयत और नीति दोनों को बखूबी समझा जा सकता है।

विश्वव्यापी भुखमरी का जिम्मेदार कौन?

□ संजय

आज दुनिया भर में 85 करोड़ लोग भूखे पेट सोने को मजबूर हैं। हर रोज 25 हजार लोग भूख से छटपटा कर दम तोड़ देते हैं। कहीं खाद्य पदार्थों को लेकर दंगे हो रहे हैं तो किसी देश की सरकार से त्रस्त होकर वहाँ की जनता उसे गद्दी से हटा दे रही है। इन समस्याओं के पीछे दुनिया भर में अनाज की कीमतों में बेतहाशा वृद्धि और अनाज का नकली संकट है। वरना विज्ञान और तकनोलॉजी की इतनी तरक्की और उत्पादन में वृद्धि के बावजूद आज करोड़ों की संख्या में दुनिया की जनता भुखमरी के कगार पर क्यों खड़ी है? दुनिया भर में खाद्यान्न संकट पैदा करने में अनाज व्यापार में सट्टेबाजी और खाद्यान्न से जैविक ऊर्जा उत्पादन की क्या भूमिका है? इस लेख में हम इन्हीं सवालों पर विचार करेंगे।

वर्तमान संकट से पहले की भुखमरी

दुनिया की 6 अरब आबादी में से एक अरब लोग चिरकालिक भुखमरी के शिकार हैं। मानवता का आधा भाग लगभग 3 अरब लोग कुपोषण के शिकार हैं जिसके कारण हमेशा ही उन पर बीमार होने का संकट मंडराता रहता है। आज की वैश्विक आर्थिक व्यवस्था की इस असलियत से हर देश का शासक वर्ग हमेशा मुँह चुराता रहता है और अपने विकास के मानकों में कभी भी भूख और कुपोषण को शामिल नहीं करता। अभी हाल ही में एशियाई विकास बैंक ने अपने नये शोध में बताया कि भारत में 72 करोड़ लोग गरीबी रेखा के नीचे हैं। यह आँकड़ा भारत सरकार के विकास के तमाम दावों और वादों की पोल खोलने वाला है। इसका सीधा मतलब है कि भारत में ही 72 करोड़ लोगों को, जो अमरीका और पूरे यूरोपीय संघ की कुल जनसंख्या से भी ज्यादा हैं, भर पेट पौष्टिक भोजन नहीं मिल पाता।

दुनिया भर में भुखमरी के शिकार लोगों में 60 फीसदी महिलाएँ हैं। भुखमरी से पीड़ित लोगों की संख्या हर साल 40 लाख बढ़ रही है। 18 साल से कम उम्र के करीब 40 करोड़ बच्चे कुपोषण के शिकार हैं। विकासशील देशों में पाँच साल से कम उम्र के 10 करोड़ बच्चे कुपोषण और भुखमरी से पैदा हुई बीमारियों से मर जाते हैं। कुपोषण सम्बन्धी समस्याओं से निपटने के लिए अरबों रुपये खर्च किये जाने के बावजूद इसका कोई अन्त दिखाई नहीं दे रहा है।

खाद्यान्न उत्पादन की कमी इस संकट का कारण नहीं है क्योंकि वैज्ञानिकों के अनुसार अकेले अमरीका में इतना खाद्यान्न पैदा हो सकता है कि पूरी दुनिया की जनता को भरपेट खाना उपलब्ध कराया जा सकता है। इसके बावजूद अमरीका में ही 2006 में 3 करोड़ 50 लाख लोगों को भरपेट खाना मयस्सर नहीं होता था। भारत में भी जब खाद्यान्न उत्पादन में आत्मनिर्भर होने और कुछ वर्ष पहले तक गोदामों में लाखों टन अनाज सड़ने के बावजूद उस समय यहाँ के

करोड़ों लोग भुखमरी झेल रहे थे। अब तो स्थिति और भी बदतर होती जा रही है।

कमाल की बात है कि मौलिक अधिकारों का दावा करने वाले संविधान भी भोजन पाने को मौलिक अधिकार में नहीं गिनते। इस पैमाने पर देखें तो आज दुनिया की किसी भी सरकार को बने रहने का नैतिक और संवैधानिक औचित्य नहीं है। आवश्यक वस्तुएँ और विलासिता की वस्तुएँ खुले बाजार में भरी पड़ी हैं। जहाँ मुट्ठी भर अमीर खुले हाथ खर्च करके कुछ भी खरीद सकते हैं, वहीं बहुसंख्यक जनता खाने की वस्तुओं के लिए भी मोहताज है। हवा और पानी जैसी आवश्यक जीवनोपयोगी वस्तुओं के साथ-साथ पौष्टिक भोजन भी हर एक इंसान के लिए उतना ही आवश्यक है। भारत से लेकर अमरीका तक की सरकारों ने आधे-अधूरे मन से फूड स्टैम्प और स्कूलों में खाना बाँटने का कार्यक्रम चलाया था, लेकिन गले तक भ्रष्टाचार में डूबी इस व्यवस्था में सफल नहीं हो सका है। बाद में कई देशों में इसे खत्म कर दिया गया।

भुखमरी और कुपोषण से पीड़ित बच्चे का पूरा भविष्य अन्धकारमय हो जाता है। ऐसा बच्चा विभिन्न तरह की शारीरिक और मानसिक विकलांगता का शिकार हो जाता है। कुपोषण से उत्पन्न हुई दुर्बलता के चलते तेजी से बीमारियों की चपेट में आ जाता है।

2008 की भयानक भुखमरी

ऊपर जो स्थिति बतायी गयी है वह इस साल की भयानक भुखमरी से पहले की तस्वीर है। कुपोषण और भुखमरी से पीड़ित लोगों की संख्या इस साल बड़ी तेजी से बढ़ी है, जिनमें बच्चे, बूढ़े और असहाय स्त्रियों की संख्या अधिक है। खाद्य पदार्थों की कीमत तेजी से बढ़ने के कारण खरीदकर खाने वाले करोड़ों लोगों के मुँह से निवाला छिन गया है। विश्व बाजार में मक्का, गेहूँ, सोयाबीन चावल और खाद्य तेल की आसमान छूती महँगाई का पूरी मानवता पर विघटनकारी और विध्वंसात्मक प्रभाव पड़ा है। इस साल विश्व बाजार में 60 कृषि पदार्थों के दामों में जहाँ 37 फीसदी की वृद्धि हुई, वहीं अकेले चावल के दामों में 100 फीसदी की वृद्धि हुई है। आखिर खाद्य पदार्थों की इस बेलगाम महँगाई का असली कारण क्या है?

1. कच्चे तेल के दामों में वृद्धि माल दुलाई के लिए पेट्रोलियम तेलों से चलने वाले वाहन उपयोग किये जाते हैं और पेट्रोलियम के दाम बढ़ने से सभी तरह के मालों की दुलाई की कीमत बढ़ जाती है। दुनिया पर वर्चस्व कायम करने के लिए अमरीका हमेशा से पेट्रोलियम तेल को हथियार के रूप में इस्तेमाल करता रहा है। तेल उत्पादन करने वाली अमरीकी बहुराष्ट्रीय कम्पनियों और वित्तीय कम्पनियों की मिली भगत से तेल के दाम आसमान छूने लगे हैं। कच्चे तेल का दाम पिछले साल जनवरी में 60 डॉलर प्रति बैरल से बढ़कर

जुलाई 2008 में 147 डॉलर प्रति बैरल हो गया। ईरान व वेनेजुएला के हस्तक्षेप और भारी अन्तर्राष्ट्रीय दबाव के कारण अगस्त तक इन कम्पनियों को दाम कम करके 110 डॉलर तक लाना पड़ा जो कि अभी भी पिछले साल की तुलना में लगभग दुगुना है। इसी कारण सभी सामानों के दाम तेजी से चढ़ गये जिनमें खाद्य पदार्थ भी हैं।

2. बायोइंधन का उत्पादन पेट्रोलियम का भण्डार सीमित होने और पेट्रोलियम का दाम बढ़ने के कारण अमरीका की दैत्याकार तेल कम्पनियों ने बायोइंधन का उत्पादन करके मुनाफा कमाना शुरू कर दिया है। बायोइंधन खाद्य पदार्थों से बनने वाला इंधन है जिसमें एथेनॉल (शराब) और बायोडीजल प्रमुख हैं। इन कम्पनियों ने भारी मात्रा में चावल, मक्के और अन्य खाद्य पदार्थों से बायोइंधन बनाकर दुनिया को खाद्य संकट की ओर धकेल दिया। कैसी विडम्बना है कि खाद्य पदार्थों से बने तेल से अमीरों की कारें चलें और इसके लिए गरीब जनता भोजन के अभाव में भुखमरी का शिकार बने। इसके साथ ही विकासशील देशों और अफ्रीका में खाद्यान्न उत्पादन करने वाली जमीन पर जेट्रोफा की खेती शुरू करवा दी गयी है जो बायोडीजल बनाने के काम आता है। यहाँ तक कि इसके लिए जंगलों को जलाकर और दलदलों को सुखाकर जमीन उपलब्ध कराने के कारण पर्यावरण का संकट भी पैदा हो रहा है। जाहिर है कि साम्राज्यवादी देशों की इन दैत्याकार कम्पनियों ने अपने मुनाफे की हवस में विश्व को खाद्यान्न संकट की ओर धकेल दिया है।

3. मांस का उपयोग एक किलोग्राम मांस पैदा करने के लिए भैंस को आठ किलोग्राम, सुअर को पाँच किलोग्राम और मुर्ग को तीन किलोग्राम अन्न खिलाना पड़ता है। खाने में पौष्टिकता के लिए मांस जरूरी है लेकिन इसे पैदा करने में काफी अन्न खर्च करना पड़ता है। केवल अमरीका के अमीरों को मांस उपलब्ध कराने के लिए जितने अन्न की जरूरत पड़ती है उतने से तो वहाँ के सभी गरीबों का पेट भरा जा सकता है। इधर कुछ वर्षों में एशिया और लैटिन अमरीका के कुछ देशों में सम्पन्न मध्यम वर्ग पैदा हुआ है। जिसने मांस की मांग को बढ़ाया है और खाद्यान्न की कीमत बढ़ाने में एक हद तक सहायक रहा है।

4. खाद्यान्न में आत्मनिर्भर देशों द्वारा गेहूँ का आयात भारत और चीन अपनी खाद्य सुरक्षा और आत्मनिर्भरता को त्यागकर आज गेहूँ आयातक देश बन गये हैं। पिछले साल भारत ने 16 रुपये प्रति किलो के भाव से आठ लाख टन गेहूँ का आयात किया था। जनविरोधी भारत सरकार ने भारतीय खाद्य निगम (एफ.सी.आई.) को धीरे-धीरे तोड़ दिया और 2002 में 630 लाख टन गेहूँ के स्टॉक को घटाते-घटाते 2007 तक 50 लाख टन तक ला दिया। गोदाम खाली करने के लिए 3 लाख टन से ज्यादा गेहूँ 8 रुपये किलो के भाव निर्यात कर दिया गया, 187 लाख टन देशी व्यापारियों और 187 लाख टन भ्रष्ट नौकरशाही के हथ्ये चढ़ गया। सरकार ने जानबूझकर न्यूनतम समर्थन मूल्य को कम करके किसानों से खरीद को काफी कम कर दिया। इसके अलावा तरह-तरह की छूट देकर सरकार ने अनाज व्यापार में लगी देशी-विदेशी कम्पनियों को खूब बढ़ावा दिया। आज यदि हमारे देश में पर्याप्त भण्डार होता

तो विश्व बाजार में दाम बढ़ने के बावजूद सरकार अपने देश में अन्न की आपूर्ति करके खाद्य पदार्थों की महँगाई कम कर सकती थी। लेकिन सरकार और मीडिया छोटे-मोटे जमाखोरों को कोसने के अलावा आज और क्या कर रहे हैं? जब सरकारी अन्न भण्डार और बड़ी अनाज व्यापार कम्पनियों का दबदबा है तो जमाखोरों को कैसे नियंत्रित किया जा सकता है?

5. उपजाऊ भूमि की बढ़ती कमी चीन में 70 लाख एकड़ और वियतनाम में 7 लाख एकड़ जमीन विकास परियोजनाओं में खप गयी। इस कारण इन देशों में धान के उत्पादन में कमी आयी है जिसने अनाज का दाम चढ़ाने में मदद की है। सेज के नाम पर भारत में भी अन्धाधुन्ध उपजाऊ जमीनें किसानों से छीनकर औद्योगीकरण और शहरीकरण के लिए उपयोग की जा रही हैं। किसानों को बागवानी और फूल की खेती के लिए प्रोत्साहन दिया जा रहा है। इसके साथ ही तीसरी दुनिया के कई देशों में वैश्वीकरण के लुभावने नारे की आड़ में गरीब किसानों को दी जाने वाली सब्सिडी काफी घटा दी गयी। (यह अलग बात है कि तीसरी दुनिया में सब्सिडी खत्म करवाने वाला अमरीका ही अपने बड़े किसानों को सबसे अधिक सब्सिडी देता है।) इससे गरीब किसानों के उजड़ जाने के बाद उन्हीं की जमीनों को खरीदकर दैत्याकार बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ उस पर खेती करके खूब मुनाफा कमा रही हैं। मुनाफे की हवस में ये कम्पनियाँ खेतों से उपजाऊ तत्वों का तेजी से दोहन और पानी का दुरुपयोग करती हैं जिससे कुछ सालों बाद वह जमीन बंजर हो जाती है। भारत में बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ करोड़ों हेक्टेयर खेतों पर आज फल, सब्जी, कपास जेट्रोफा, मेंथा जैसी फसलें उगा रही हैं। लाखों लोगों को विस्थापन की पीड़ा देने के अलावा यह ठेका खेती खाद्यान्न संकट को और बढ़ा देती है। इस तरह लगातार खाद्यान्न उत्पादन के लिए उपयुक्त खेती योग्य भूमि कम होती जा रही है।

6. पर्यावरण प्रदूषण कम्पनियों ने मुनाफे की हवस में प्रकृति का बेहिसाब दोहन किया है जिससे उत्पन्न पर्यावरण विनाश की समस्या ने पूरी मानव जाति को संकट में डाल दिया है। आज ग्लोबल वार्मिंग से दुनिया का तापमान बढ़ने के कारण कहीं सूखा, कहीं बाढ़, कहीं चक्रवात और कहीं तूफान जैसी स्थिति पैदा हो गयी है। गेहूँ निर्यातक देश आस्ट्रेलिया में सूखे के कारण इस साल विश्व बाजार में गेहूँ की कमी हो गयी है, जिससे गेहूँ के दाम चढ़ गये। बांग्लादेश में चक्रवात के कारण 24 अरब रुपये की धान की फसल बर्बाद हो गयी जिससे तात्कालिक तौर पर धान के दाम 70 प्रतिशत तक बढ़ गये। उत्तर-मध्य चीन में सूखे ने खाद्यान्न उत्पादन में कमी ला दी है। भारत के बुन्देलखण्ड इलाके में जंगलों के विनाश के कारण लगातार सूखा पड़ने से पिछले पाँच सालों में भुखमरी की स्थिति है। हाल ही में पंजाब, उत्तर प्रदेश और बिहार के विभिन्न इलाकों में बाढ़ आने से भारी तबाही हुई है जिससे खाद्यान्न की फसलें चौपट हो गयी हैं।

7. सट्टेबाजों और जमाखोरों का योगदान सट्टेबाज और जमाखोर जनता की मुसीबतों से फायदा उठाते हैं। खाद्यान्न उत्पादन कम होने के कारण जब अनाज के दाम चढ़ने लगे तो जमाखोरों ने चोरी-छिपे अनाज जमा करके संकट को और बढ़ा दिया।

जमाखोरों से भी ज्यादा मुजरीमाना हरकत सट्टेबाजों ने वायदा कारोबार से अनाजों के दाम चढ़ाकर किया है। आज की अर्थव्यवस्था के महत्वपूर्ण अंग बन चुके ये सट्टेबाज कुछ अलग-थलग आदमी नहीं, बल्कि दैत्याकार बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ हैं। पूरे बाजार पर इनका वर्चस्व होने के कारण जब अनाज पैदा होता है तो वे किसानों को सस्ते दाम पर अपना अनाज बेचने के लिए मजबूर कर देती हैं। दूसरी ओर अनाज के वायदा कारोबार से कीमतों में फर्जी वृद्धि करके उपभोक्ताओं से खूब मुनाफा निचोड़ती हैं।

ये सट्टेबाज कम्पनियाँ बाजार में किसी उत्पाद की माँग बढ़ने के कारण रातोंरात दाम चढ़ा देती हैं। अभी पिछले साल जब भारत सरकार ने विश्व बाजार से गेहूँ खरीदने का निर्णय लिया तो इन्होंने तुरन्त गेहूँ के दाम 8 रुपये प्रति किलो से बढ़ाकर 16 रुपये प्रति किलो कर दिये थे। किसानों की रहनुमा सरकार ने इसी बड़ी हुई कीमत पर लाखों टन गेहूँ आयात किया। महँगाई के पीछे आज असली कारण सामान की कमी नहीं है बल्कि एकाधिकारी अनाज व्यापारियों की बेहिसाब मुनाफाखोरी, सट्टेबाजी और वायदा कारोबार हैं। इन सट्टेबाजों के मैदान में आने से पहले अनाज के व्यापारी जमाखोरी करके स्थानीय स्तर पर कीमतें चढ़ा देते थे, जबकि आज बिना जमाखोरी के विश्व बाजार की कीमतें घटा-बढ़ा कर वायदा कारोबारी करोड़ों-अरबों का वारा-न्यारा कर रहे हैं। सट्टेबाजी से ही कीमतें तेजी से बढ़ी हैं जिससे आज बहुसंख्य आबादी को दाने-दाने के लिए मोहताज होना पड़ा रहा है।

महँगाई पर काबू पाने के लिए इन सट्टेबाज कम्पनियों को सरकार कैसे नियंत्रित कर सकती है जबकि ये दैत्याकार कम्पनियाँ कई देशों की सरकारों को खुद नियंत्रित करती हैं। इन्हीं कम्पनियों की रहनुमा हमारी सरकार ने सबसे पहले भारतीय खाद्य निगम को धीरे-धीरे तोड़ा और खरीद का न्यूनतम समर्थन मूल्य कम करके आई.टी.सी, कारगिल, ए.डब्ल्यू.बी. इण्डिया, ब्रिटानिया, दिल्ली फ्लोर मिल और अदानी इण्टरप्राइजेज जैसी कम्पनियों को सीधे बाजार से गेहूँ खरीदने के लिए आमंत्रित किया। यही कारण है कि पिछले साल इन कम्पनियों ने किसानों से 20 लाख टन गेहूँ की सीधी खरीद की, जबकि सरकार ने केवल 11 लाख टन की खरीद की।

आज दुनियाभर में दैत्याकार विदेशी कम्पनियाँ अपने सहयोगियों के साथ मिलकर बेइन्तहाँ मुनाफा कमाने के लिए पूरी दुनिया को खाद्यान्न संकट की ओर धकेल रही हैं। इन इजारेदार कम्पनियों ने अपनी साम्राज्यवादी नीति के तहत कई देशों की सरकारों से भी सॉठ-गाँठ कर ली है। एक तरफ आज पूरी दुनिया मुट्ठीभर इजारेदार कम्पनियों की लूट-खसोट का खुला चरागाह बनी हुई है तो दूसरी तरफ भुखमरी की मार झेल रही जनता जगह-जगह विरोध प्रदर्शन और आन्दोलन कर रही है।

पाकिस्तान, मोरक्को, मैक्सिको, सेनेगल, उजबेकिस्तान और कई अन्य देशों में खाद्यान्न महँगाई के खिलाफ विरोध प्रदर्शन और दंगे फसाद हुए हैं। भारत सहित कई देशों की सरकारों ने महँगाई को रोकने के लिए जो फर्जी उपाय किये हैं, उल्टा इससे महँगाई और तेजी से बढ़ी है। आज दुनिया के अर्थशास्त्री सबप्राइम संकट

से अधिक परेशान हैं, जबकि पूरी दुनिया के सामने खाद्य संकट की समस्या बहुत ही विकराल रूप में मुँह बाये खड़ी है। दुनिया में 75 फीसदी गरीब जनता गाँवों में रहने के कारण खेती से जुड़ी हैं जिसके ऊपर आज अस्तित्व का संकट मँडरा रहा है।

आखिर रास्ता क्या है?

दुनिया के लगभग हरेक देश में खाद्यान्न उत्पादन के लिए प्रचुर मात्रा में उपजाऊ भूमि और जल और अनुकूल जलवायु है। जिससे पूरी मानवता के लिए पौष्टिक आहार उपलब्ध कराया जा सकता है। इसके अलावा फसलों की इतनी विविध किस्में हैं जिनका उपयोग करके खाद्य पदार्थों का स्वाद और पौष्टिकता बढ़ायी जा सकती है। अपने देश में सामाजिक कल्याण के कार्यक्रमों का जाल बिछाकर वेनेजुएला ने गरीब बच्चों, बूढ़ों और कमजोर लोगों को भरपेट पौष्टिक भोजन उपलब्ध करवाया है।

भारत सहित दुनिया के अन्य देशों में भी खाद्यान्न इमरजेन्सी के तहत कुपोषण और भूख से लड़ा जा सकता है। किसानों को सस्ते दाम पर खाद, पानी, बिजली और खेती के अन्य साधन उपलब्ध कराकर तथा न्यूनतम समर्थन मूल्य बढ़ाकर उन्हें खाद्यान्न उत्पादन के लिए प्रेरित किया जा सकता है। बंजर भूमि को उपजाऊ बनाकर और भूमि सुधार के अन्य कार्यक्रम चलाकर खेती योग्य जमीन का विस्तार किया जा सकता है। भूजल संरक्षण के तहत नदियों-नालों-तालाबों की उचित देखभाल करके और कम जल सोखने वाली फसलों को प्रोत्साहन देकर भूजल स्तर को गिरने से बचाया जा सकता है। शहरों की गन्दगी के उचित प्रबन्धन द्वारा, प्रदूषण पैदा करने वाली कम्पनियों और ग्लोबल वार्मिंग के लिए जिम्मेदार गैसों के उत्सर्जन को बन्द करके पर्यावरण को विनाश से बचाया जा सकता है।

लेकिन तथ्य बताते हैं कि आज सभी पार्टियों के पूँजीपरस्त नेताओं, सट्टेबाजों और अनाज व्यापारियों के बीच एक धिनौनी साजिश और सॉठ-गाँठ कायम है। मेहनतकश जनता की भुखमारी और मौत की कीमत पर ये अय्याशी भरी जिन्दगी जी रहे हैं। जनता को थोड़ी राहत देने वाले रहे-सहे कानूनों को भी आज की सरकारें एक-एक करके खत्म और तबाह कर रही हैं। ऐसी स्थिति में उनसे इस संकट को हल करने की उम्मीद पालना खुद को भ्रम में डालना है।

ये सभी काम ऐसी क्रान्तिकारी सरकार ही कर सकती है जिसको अपने देश की जनता में पूरा विश्वास हो और जिस पर उस देश की जनता भी उतना ही विश्वास करती हो। लेकिन आज की साम्राज्यवादी दैत्याकार कम्पनियों और उनके देशी लगुए-भगुए नेताओं के रहते, जो सर से पाँव तक भ्रष्टाचार में डूबे, चरम स्वार्थी और पदलोलुप हैं, ऐसी नीतियों का लागू होना और चल पाना संभव नहीं हैं। जनता आज बदलाव चाहती है। जगह-जगह विरोध, आन्दोलन और विद्रोह इसी बात को साबित करते हैं। जनता को उचित मार्गदर्शन देकर और जुझारू संगठन बनाकर ही साम्राज्यवाद और देशी पूँजीवाद का खात्मा किया जा सकता है। क्रान्तिकारी सरकार ही अपनी जनता के सहयोग से खाद्यान्न संकट को हल कर सकती है और करेगी। □

पर्यावरण का गहराता संकट

साम्राज्यवादी लूट का नतीजा

□ दिनेश

अभी हाल ही में जापान में साम्राज्यवादी देशों के मंच ग्रुप-8 का सम्मेलन हुआ जिसमें जलवायु परिवर्तन और ग्लोबल वार्मिंग का मुद्दा छाया रहा। सम्मेलन में साम्राज्यवादी देशों की ओर से 2050 तक वैश्विक उत्सर्जन में 50 प्रतिशत कमी लाने की बात कही गयी। यह क्योटो प्रोटोकॉल से किनाराकसी है, जिसमें कहा गया था कि विकसित देशों को अपना उत्सर्जन 2020 तक 24 से 40 प्रतिशत और 2050 तक 80 से 95 प्रतिशत तक कम करना होगा।

हाल ही में वैज्ञानिकों ने चेतावनी दी थी कि 2012 तक दुनिया के पर्यावरण का इतना विनाश हो जाएगा जिसकी क्षतिपूर्ति करना असम्भव होगा। लेकिन दुनिया के साम्राज्यवादियों ने इस विकट समस्या को जान-बूझकर 2050 तक टाल दिया। जाहिर है कि इस समस्या को हल करने के मामले में वे पूरी तरह लापरवाही और गैरजिम्मेदारी का रवैया अपना रहे हैं। जलवायु परिवर्तन की विनाशलीला के प्रति चिन्तित होने के बावजूद साम्राज्यवादी देश और उनके लगुए-भगुए अपने मुनाफे की हवस में लगातार इसकी अनदेखी कर रहे हैं। इन्हीं देशों को चेतावनी देते हुए और दुनिया की जनता को सावधान करते हुए 1992 के पृथ्वी सम्मेलन में फिदेल कास्त्रों ने कहा था “स्वार्थपरता बहुत हो चुकी, दुनिया पर वर्चस्व कायम करने के मंसूबे बहुत हुए, असंवेदनशीलता, गैरजिम्मेदारी और फरेब की हद हो चुकी है। जिसे हमें बहुत पहले ही करना चाहिए था उसे करने के लिए कल बहुत देर हो चुकी होगी।”

जलवायु परिवर्तन और ग्लोबल वार्मिंग के कारण और प्रभाव

ग्लोबल वार्मिंग का सबसे बड़ा कारण वातावरण में ग्रीन हाउस गैसों की बढ़ती मात्रा है। इन गैसों में कार्बन डाईऑक्साइड, नाइट्रस ऑक्साइड, मीथेन, क्लोरो फ्लोरो कार्बन व हैलो कार्बन्स मुख्य हैं, इन गैसों से पृथ्वी के चारों ओर वायुमण्डल में एक ऐसा आवरण बन जाता है, जिसके कारण सूर्य से आने वाली ऊष्मा वायुमण्डल में प्रवेश तो कर जाती है, परन्तु बाहर नहीं निकल पाती जिसके फलस्वरूप विश्व के औसत तापमान में वृद्धि होती है।

वैज्ञानिकों का कहना है कि इस समय विश्व का औसत तापमान 15 डिग्री सेल्सियस है और वर्ष 2100 तक इसमें 1.5 से 6 डिग्री की वृद्धि हो सकती है। इसके प्रत्यक्ष व परोक्ष परिणाम इतने व्यापक और भयंकर होंगे कि उनकी कल्पना कर पाना भी मुश्किल है।

दुनिया का तापमान मापने के लिए हिमनदों को थर्मामीटर माना जाता है और ये दुनियाभर में पिघल रहे हैं। “द एनर्जी एण्ड

रिसोर्सेज इंस्टीट्यूट” (टेरी) के अध्यक्ष और जलवायु परिवर्तन पर अन्तरसरकारी चैनल के निदेशक का कहना है कि “हिमनदों का पिघलना खतरे की घण्टी है जिसे हम दुनियाभर में आर्कटिक, एण्डीज, आल्प्स और हिमालय में भी देख रहे हैं। इनके पिघलने से समुद्र का जलस्तर बढ़ेगा जिस कारण कुछ देश तो पूरी तरह समुद्र में समा जाएंगे। इसके अलावा वातावरण में मौजूद जल की मात्रा में परिवर्तन होने के कारण मौसम के मिजाज में अचानक भारी बदलाव देखने को मिलेंगे। जैसे एक ही समय में कहीं पर सूखा और कहीं पर बाढ़ लोगों की जिन्दगी में तबाही लाएगी। “इनवायरनमेण्ट एण्ड अर्बनाइजेशन जर्नल” की इसी साल मार्च में जारी रिपोर्ट में बढ़ते तापमान और इससे समुद्र के जलस्तर में बढ़ोत्तरी के कारण दुनिया के कई शहरों के जलसमाधि लेने की आशंका जताई गयी है।

रिपोर्ट के अनुसार, “इसी दशक के अन्त तक समुद्री जलस्तर सात से तेईस इंच तक बढ़ जाने की आशंका है। इससे चीन, भारत, बांग्लादेश, वियतनाम, इण्डोनेशिया व जापान को सबसे अधिक हानि होगी।”

कलकत्ता स्थित स्कूल ऑफ ओसेनोग्राफिक स्टडीज के शोध के मुताबिक सुन्दरवन के समुद्र से लगे 12 दक्षिणी द्वीपों को भूक्षरण और डूबने का खतरा है जिसके कारण हजारों लोगों व जंगली जानवरों की जान जोखिम में पड़ गयी है। पिछले तीन दशकों में इलाके की 82 वर्ग किलोमीटर जमीन समुद्र में डूब चुकी है। एक अनुमान के मुताबिक सुन्दरवन के भारतीय क्षेत्र में स्थित द्वीपों में रहने वाले 70,000 लोग 2020 तक बेघर हो जायेंगे। सागर द्वीप के पास समुद्र जलस्तर के बढ़ने की वर्तमान दर 3.14 मिली मीटर प्रति वर्ष है जो कि ग्लोबल वार्मिंग के कारण आने वाले वर्षों में 3.5 मिली मीटर प्रति वर्ष तक बढ़ सकती है।

एक शोध के अनुसार, “1973 से आज तक आर्कटिक महाद्वीप की हिमपरत 40 प्रतिशत घट गयी है और खतरा यह है कि अगले 50 से 70 वर्षों में यह बिल्कुल खत्म हो सकती है। यदि ग्रीनलैण्ड और अण्टार्क्टिका की बर्फ पूरी तरह से पिघल गयी तो समुद्रों का जल-स्तर ऊँचा उठ जाएगा और इस कारण फ्लोरिडा, बीजिंग, शंघाई, कोलकाता व नीदरलैण्ड्स के बड़े हिस्से डूब जायेंगे।”

करोड़ों वर्ष पूर्व वायुमण्डल में 5 डिग्री सेल्सियस तापमान परिवर्तन के कारण डायनासोरों की प्रजाति का पृथ्वी से अस्तित्व ही समाप्त हो गया था। आज भी तापमान वृद्धि के कारण हर घण्टे जीवों की तीन प्रजातियाँ लुप्त हो रही हैं जोकि पृथ्वी पर जीवन के संकट और महाविनाश का संकेत है।

उपरोक्त परिवर्तनों के कारण मानव को पृथ्वी की जलवायु के साथ जिन्दगी को पटरी पर लाना बहुत मुश्किल होगा, क्योंकि समुद्रों का जलस्तर बढ़ जाने के कारण विश्व में बहुत-सी कृषि और आवासीय भूमि डूब जाएगी और मनुष्य के सामने आवास और भोजन की समस्या मुँह बाये खड़ी होगी। इसके साथ ही जलवायु परिवर्तन के कारण तेजी से बढ़ रही बाढ़ और सूखे की समस्या और गम्भीर हो जाएगी। जलवायु परिवर्तन का ही नतीजा है कि जो बीमारियाँ दुनिया से खत्म हो चुकी थीं वे विषाणुओं व रोगाणुओं द्वारा प्रतिरोधक क्षमता विकसित कर लेने के कारण दोबारा दुनियाभर में अपने पैर पसार रही हैं। इनकी संख्या आने वाले समय में और ज्यादा बढ़ेगी और प्राकृतिक आपदाओं में वृद्धि होने के कारण महामारियाँ फैलेंगी, जिससे मानव जीवन को भारी क्षति उठानी पड़ेगी।

पर्यावरण के विनाश के लिए जिम्मेदार कौन?

पर्यावरण के इस भयावह विनाश के लिए दुनिया-भर के शोषक जिम्मेदार हैं। ये उन साम्राज्यवादी नीतियों की सन्तान हैं जो खुद बहुसंख्यक मानव आबादी पर कहर ढा रही गरीबी और पिछड़ेपन के लिए जिम्मेदार हैं। इन्होंने अपनी विलासिता और मुनाफे की भूख के चलते प्राकृतिक संसाधनों का खतरनाक स्तर तक दोहन और विनाश किया है। दुनिया का महज 20 प्रतिशत होने के बावजूद धनी देश दुनिया-भर में धातुओं के कुल उत्पादन का दो तिहाई और ऊर्जा के कुल उत्पादन का तीन चौथाई का उपभोग करते हैं। उन्होंने नदियों और समुद्रों में जहर घोल दिया है जिसके कारण जलीय जीवन संकटग्रस्त हो गया है। इनके कारखानों व कारों से निकलने वाले धुएँ ने वायु को प्रदूषित कर दिया है। एयरकण्डिशनर और फ्रिज से निकलने वाले क्लोरो-फ्लोरो कार्बन ने ओजोन परत में छेद कर दिया है, जिसके कारण पर्यावरण में विनाशकारी बदलाव हो गये हैं और जिसकी मार आज दुनिया की बहुसंख्यक आबादी को रोगों, बाढ़ व खाद्य संकट के रूप में झेलना पड़ रहा है। हालाँकि ग्लोबल वार्मिंग के लिए बहुसंख्यक गरीब आबादी भी अंशतः जिम्मेदार है जो इंधन के लिए लकड़ी का इस्तेमाल करती है, जिससे निकलने वाला धुआँ और कार्बन डाई ऑक्साइड पर्यावरण को दूषित करता है। लेकिन ऐसा बहुसंख्यक आबादी की अय्याशी नहीं बल्कि एक और दिन जिन्दा रहने की मजबूरी है। इस बदहाली के लिए भी अन्ततः दुनिया की शोषणकारी व्यवस्था ही जिम्मेदार है।

आज पृथ्वी पर जीवन रोज-ब-रोज महाविनाश की ओर बढ़ रहा है जिसके स्पष्ट प्रमाण तीव्र चक्रवातों, टाइफून, हरीकेन, कैटरिना, बाढ़, सूखा और नयी-नयी बीमारियों के रूप में हमारे सामने आ रहे हैं। ऐसे समय में विश्व समुदाय को 'ग्लोबल वार्मिंग' को रोकने व पृथ्वी से जीवन को लुप्त होने से बचाने के लिए निजी स्वार्थों से ऊपर उठकर इस ओर गम्भीर व सार्थक प्रयास करने की आवश्यकता है और इसकी जिम्मेदारी वर्तमान समय में आर्थिक

रूप से सम्पन्न देशों की है, जिनका वैश्विक संसाधनों पर कब्जा है। लेकिन उनका रवैया पूरी तरह गैरजिम्मेदाराना है।

क्या पूँजीवाद में इस समस्या का समाधान हो सकता है?

आज की पूँजीवादी आर्थिक व्यवस्था में इस समस्या का समाधान असम्भव है क्योंकि यही व्यवस्था इसकी जननी है। पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में उत्पादन निजी मालिकाने व मुनाफे के लिए होता है। यह संसाधनों का अनुचित तरीके से दोहन व विनाश करती है। यदि वे ऐसा न करें तो इनके मुनाफे में कमी आएगी जो इनको वैश्विक प्रतियोगिता की दौड़ में पीछे धकेल देगी।

समाज में असमान आर्थिक विकास पूँजीवाद का अन्तर्निहित चरित्र है जिसका इसके पास कोई समाधान नहीं है। जहाँ यह चन्द लोगों की तिजोरियाँ भरता है, वहीं बहुसंख्यक आबादी को गरीबी, अज्ञानता, भुखमरी व कुपोषण की खाई में धकेल देता है। गरीब जनता और गरीब देश उन्नत तकनीक व संसाधनों की कमी के कारण मजबूरीवश जलवायु परिवर्तन में अंशतः वृद्धि करते हैं। परन्तु इसके लिए भी शासक पूँजीपति वर्ग ही जिम्मेदार है।

क्या पूँजीपति वर्ग अपने स्वार्थों को छोड़कर व निजी मालिकाने की कीमत पर पर्यावरण को बचाने के लिए आगे आ सकता है।

इस प्रश्न का जवाब हम इतिहास में दुनिया पर वर्चस्व कायम करने के मंसूबों को पूरा करने के लिए साम्राज्यवादी नीतियों में देख सकते हैं। अपने स्वार्थों के चलते साम्राज्यवादियों ने दुनिया के बँटवारे के लिए दुनिया को दो बार विश्वयुद्ध में झोंका, जिसमें करोड़ों लोग मारे गये। इसके अलावा अमरीका द्वारा तेल के कब्जे के लिए इराक व अफगानिस्तान पर युद्ध थोपकर वहाँ की आम जनता और पर्यावरण को तबाह कर दिया। मानवता के इतिहास के ये काले पन्ने साम्राज्यवादियों के कुकृत्य हैं। मानवता के ये दुश्मन मानवता को बचाने के लिए कभी आगे नहीं आयेंगे।

आज विश्व में ग्लोबल वार्मिंग को लेकर जो चर्चाएँ और वार्ताएँ हो रही हैं उनमें पूँजीवादी-साम्राज्यवादियों की चिन्ता का विषय ग्लोबल वार्मिंग के साथ गैसों के उत्सर्जन को कम करने वाली नयी ऊर्जा संरक्षण तकनीक पर अधिकार जमाना भी है, जो भविष्य में इनके मुनाफे की गारण्टी करेगा। ऐसे संकट के समय में भी साम्राज्यवादी देश समस्या के समाधान को मुनाफे के साधन के रूप में देखते हैं।

पर्यावरण विनाश और ग्लोबल वार्मिंग की यह समस्या असमान विकास को बढ़ाने वाली, मुनाफे पर आधारित पूँजीवादी व्यवस्था की देन है। इस समस्या का समाधान एक ऐसी व्यवस्था के अन्दर ही सम्भव है जो निजी मालिकाने व मुनाफे पर आधारित न हो। मानवता व प्रकृति से प्यार करने वालों को ऐसी ही व्यवस्था के निर्माण के लिए संगठित और संकल्पबद्ध होना होगा। तभी इस पृथ्वी और इस पर रहने वाले जीवन को नष्ट होने से बचाया जा सकेगा। □

दामोदर धर्मानन्द कोसम्बी : एक जनपक्षधर बुद्धिजीवी

□ सरिता

31 जुलाई 2008 को दामोदर धर्मानन्द कोसम्बी के जन्मशताब्दी वर्ष का समापन हुआ। 59 वर्ष के छोटे से जीवनकाल में ही कोसम्बी ने अपने श्रमसाध्य शोध और लेखन से भारतीय ज्ञान-विज्ञान को काफी समृद्ध किया। एक प्रतिष्ठित गणितज्ञ होने के साथ-साथ वे सांख्यिकी, आनुवंशिकी, मुद्राशास्त्र, इतिहास एवं इतिहास-लेखन, प्राचीन भारतविद्याशास्त्र (इण्डोलॉजी) और प्राचीन संस्कृत साहित्य के गम्भीर अध्येता और जाने-माने विद्वान थे।

कोसम्बी का जन्म 31 जुलाई 1907 को गोवा के एक सुशिक्षित परिवार में हुआ था। उनकी प्रारम्भिक शिक्षा पुणे में हुई। 1918 में पिता के साथ वे हार्वर्ड चले गये। दो वर्षों तक हार्वर्ड ग्रामर स्कूल में पढ़ाई करने के बाद 1920 में उन्होंने कैम्ब्रिज हाई एण्ड लैटिन स्कूल में दाखिला लिया। स्कूली शिक्षा के दौरान उन्होंने जर्मन, फ्रेंच, ग्रीक और लैटिन भाषाओं पर अधिकार प्राप्त कर लिया। इस तरह, प्रारम्भ में ही दामोदर के आत्मनिर्भर व्यक्तित्व और शोधवृत्ति की बुनियाद पड़ गयी।

उनके पिता आचार्य धर्मानन्द कोसम्बी प्रकाण्ड विद्वान थे। ज्ञान-प्राप्ति के लिए उन्होंने देश-देशान्तर का भ्रमण किया था। संस्कृत, पालि और अंग्रेजी में उन्हें महारत हासिल थी और वे बौद्ध-दर्शन के अध्येता थे। उन्होंने गुजरात विश्वविद्यालय में अध्यापन कार्य भी किया था। स्वतन्त्रता आन्दोलन और क्रान्तिकारियों से उनका गहरा सम्बन्ध था। स्वतन्त्रता आन्दोलन में सक्रिय हिस्सेदारी के कारण उन्हें जेल की सजा भी काटनी पड़ी थी। वे रूसी क्रान्ति से भी बहुत प्रभावित थे।

हार्वर्ड प्रवास के दौरान आचार्य धर्मानन्द के घर वैज्ञानिकों में आपस में बहस-मुबाहसों के बीच दामोदर कोसम्बी को शोधवृत्ति का संस्कार मिला। इसमें साइबरनेटिक्स के जनक नार्वर्ट वीनर की प्रमुख भूमिका रही। कोसम्बी ने 1924 में जार्ज डेविड बरकॉक के शिष्य के रूप में हार्वर्ड विश्वविद्यालय में प्रवेश लिया और 1929 में गणित में बी.ए. की डिग्री प्राप्त करने के बाद लब्धप्रतिष्ठ संस्था 'फाई बीटा कम्पा' के सदस्य बनाए गये।

डिग्री पूरा करने के बाद कोसम्बी भारत लौट आए। यह वही समय था जब अमरीकी अर्थव्यवस्था महामन्दी में गते लगाने लगी थी। भारत लौटकर कोसम्बी ने 1930 में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में गणित का अध्यापन शुरू किया। साथ में वे जर्मन भाषा भी पढ़ाते थे। लेकिन वहाँ का माहौल उन्हें पसन्द नहीं आया और 1931 में वे अलीगढ़ विश्वविद्यालय में आ गये। यहाँ फ्रेंच गणितज्ञ आन्द्रे बाइल और भारतीय गणितज्ञ विजय राघवन के साथ शोध के क्षेत्र में खूब मुसाफिरी की और दो वर्षों में आठ शोधपत्र प्रकाशित किये।

1933 में कोसम्बी पुणे के फर्ग्यूसन कॉलेज में आ गये। यहाँ 12 वर्षों तक काम करने के बाद होमी भाभा के आमन्त्रण पर 1945 में टाटा इंस्टीट्यूट ऑफ फंडामेंटल रिसर्च में चले गये।

क्षितिज पर कम्प्यूटर युग की आभा दिखाई देने लगी थी जिसे कोसम्बी ने पहचाना। टाटा इंस्टीट्यूट में काम करते हुए उन्होंने इस

विषय पर अध्ययन के लिए यूनेस्को फेलो के रूप में दो वर्षों का समय इंग्लैण्ड और अमरीका में बिताया।

टाटा इंस्टीट्यूट में रहते हुए भाभा के साथ विभिन्न मुद्दों पर उनके मतभेद पैदा होते रहे। इनमें से एक मतभेद ऊर्जा के कारण स्रोत से सम्बन्धित था। भाभा परमाणु ऊर्जा के प्रबल समर्थक थे जबकि कोसम्बी उसे विश्व शान्ति के लिए खतरा मानते थे क्योंकि परमाणु ऊर्जा और आणविक अस्त्रों में दो कदम का ही फासला होता है। इसकी जगह वे सौर ऊर्जा और अन्य वैकल्पिक ऊर्जा-स्रोतों के प्रबल समर्थक थे। आगे चलकर भाभा और कोसम्बी के बीच मतभेद बढ़ने लगे। दरअसल मतभेदों के मूल में दोनों वैज्ञानिकों की राजनीति और पक्षधरता में भिन्नता थी। कोसम्बी की समाजवाद में अटूट आस्था थी और वे चीनी क्रान्ति का खुला समर्थन करते थे। अन्ततः 1962 की गर्मी की छुट्टियों में कोसम्बी जब बाहर गये हुए थे, भाभा ने पत्र लिखकर उन्हें नौकरी से निकाल दिया।

लेकिन भाभा की इस कार्रवाई के द्वारा कोसम्बी की बहुमुखी शोधवृत्ति पर लगाम लगाना सम्भव नहीं हो सका और उनकी अखण्ड यात्रा जारी रही।

कोसम्बी एक ऐसे वैज्ञानिक थे जो समस्या के आ-उपस्थित होने पर उसकी गहराई में जाते थे, चाहे वे विषय गणित से सम्बन्धित हों, या किसी अन्य क्षेत्र से। यही कारण है कि उन्होंने इतिहास, प्राचीन भारतशास्त्र, मुद्राशास्त्र, प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों इत्यादि के क्षेत्र में शोध के नए प्रतिमान स्थापित किए, जबकि ये विषय विज्ञान की परिधि से बाहर माने जाते हैं। गणित के अलावा इन विषयों पर भी इनके शोध इतने स्तरीय थे कि उन्हें अन्तरराष्ट्रीय ख्याति मिल चुकी थी।

वैज्ञानिकों में विशुद्ध विज्ञान को ही 'असली' विज्ञान मानने का संकीर्ण दृष्टिकोण व्याप्त रहा है। इसके विपरीत कोसम्बी का दृष्टिकोण व्यापक था। उनका तो यहाँ तक मानना था कि वैज्ञानिक तभी सही मायने में स्वतन्त्र और मुक्त महसूस करेंगे जब वे खुद को मानव-कल्याण के लिए शोधकार्य में लगाएँगे।

चीन में अभी हाल ही में क्रान्ति सम्पन्न हुई थी और वहाँ समाजवादी निर्माण का काम तेज गति से चल रहा था। चीन के सामाजिक-आर्थिक विकास के लिए सांख्यिकी की उपयोगिता पहले से कहीं ज्यादा महत्त्व ग्रहण कर चुकी थी। एक जनपक्षधर वैज्ञानिक और अन्तरराष्ट्रीयतावादी होने के नाते वे टाटा इंस्टीट्यूट में काम करने के दौरान ही चीन द्वारा आमन्त्रित किए गये। वहाँ जाकर उन्होंने औद्योगिक और कृषि उत्पादन सम्बन्धी आँकड़े इकट्ठा करने और उनका विश्लेषण करने के तरीके विकसित किये और राष्ट्रीय नियोजन में इन आँकड़ों के इस्तेमाल का उपाय निकाला।

कोसम्बी ने सांख्यिकी का प्रयोग करके गुणसूत्रों सम्बन्धी 'कोसम्बी फार्मूला' और 'कोसम्बी जीन मैप' विकसित किया। प्रसिद्ध सांख्यिकीविद् ए.आर.जी. ओवेन ने कहा कि 'कोसम्बी फार्मूला' यह बात स्पष्ट कर

देता है कि कोसम्बी जैसे विद्वान ऊँची उड़ान लेते हैं लेकिन कभी भी अपना रास्ता नहीं भूलते।

‘कोसम्बी फार्मुला’ के बारे में स्वयं कोसम्बी ने ‘विज्ञान की राह’ में लिखा है कि इस फार्मुला का उपयोग यदि अनाज का उत्पादन बढ़ाने में किया गया होता तो अच्छा होता। लेकिन विडम्बना है कि जिस देश में दुनिया का सर्वाधिक अनाज पैदा होता है उसी देश में अनाज को नष्ट भी कर दिया जाता है ताकि बाजार में आवक न बढ़े और ऊँची कीमतें बनी रहें। दूसरी ओर दुनिया में लोग भुखमरी के शिकार हैं। अतः उत्पादन और उपभोग के अन्तरसम्बन्धों पर ध्यान देना जरूरी है। इस तरह, कोसम्बी ने मुनाफे पर आधारित व्यवस्था के औचित्य पर प्रश्न उठाया।

कोसम्बी ने मुद्राओं के बारे में अध्ययन के लिए सांख्यिकी का प्रयोग किया और “होमोजीनस रैण्डम प्रॉसेस” नामक पद्धति विकसित की। इस तरह, उन्होंने मुद्राशास्त्र की बुनियाद डाली। इस अध्ययन से तच्छला (तक्षशिला) की अर्थव्यवस्था पर रोशनी पड़ी। और अधिक गहराई में जाने पर कोसम्बी के लिए इण्डोलॉजी की खिड़की खुल गयी। लेकिन इण्डोलॉजी के लिए प्राचीन ग्रन्थों का अध्ययन जरूरी था, अतः उन्होंने इसमें भी महारत हासिल कर ली। इससे आगे बढ़ने पर उन्हें इतिहास का विशाल क्षेत्र मिल गया।

कोसम्बी ने इतिहास के बारे में क्रान्तिकारी नजरिया स्थापित किया “हमें इतिहास की पुनर्रचना करनी होगी, जिसमें राजा-महाराजाओं और राजवंशों की तथा युद्धों और लड़ाइयों की मिर्च-मसालेदार कहानियाँ नहीं होंगी।” उन्होंने इतिहास को इन शब्दों में परिभाषित किया “उत्पादन के साधनों और उत्पादन-सम्बन्धों में उत्तरोत्तर परिवर्तनों का कालक्रमानुसार विकास ही इतिहास है।” उन्होंने दो टूक शब्दों में कहा कि इतिहास के लिए राजा-महाराजाओं की लम्बी सूची की तुलना में एक हल का महत्त्व कहीं ज्यादा है कि यह हल सबसे पहले कहीं और कब अस्तित्व में आया और इसके द्वारा जो अतिरिक्त उत्पादन हुआ उस पर किसने अधिकार जमाया।

पुरातत्व के बारे में कोसम्बी कहते हैं कि इसका महत्त्व तो है ही लेकिन किसी भी किसान से पुरातत्व की तुलना में इतिहास के लिए बहुत ज्यादा पाया जा सकता है। उन्होंने बताया कि हमारे समाज की ग्रामीण आबादी, निम्नवर्ग के लोग तथा आदिवासी आज भी समाज की आरम्भिक अवस्थाओं में जी रहे हैं और उनकी संस्कृतियाँ प्राक्-इतिहास की अवस्था में हैं, अतः पुरातत्व के साथ-साथ इन समाजों का जीवन्त अध्ययन इतिहास के स्रोत उपलब्ध कराने में कहीं ज्यादा कारगर सिद्ध होगा। उन्होंने यह भी कहा कि उनके स्थानीय देवी-देवताओं के बारे में अध्ययन से उनके आग्रजन और एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाकर बसने के रास्तों के बारे में जानकारी मिल सकती है, व्यापार के पुराने रास्तों का पता लगाया जा सकता है और भोजन इकट्ठा करने वाली जातियों का खेती और पशुपालन करने वाली जातियों के साथ सम्मिलन के बारे में जानकारी मिल सकती है।

इस तरह कोसम्बी ने आमजन तथा उनकी संस्कृति और सभ्यता को इतिहास की विषयवस्तु बनाया।

भारतीय इतिहास, संस्कृति और सभ्यता से सम्बन्धित उनकी रचनाओं को काफी लोकप्रियता और प्रतिष्ठा हासिल हुई। ‘मिथक और यथार्थ : भारतीय संस्कृति के निर्माण सम्बन्धी अध्ययन’, ‘प्राचीन

भारत की संस्कृति और सभ्यता : एक ऐतिहासिक रूपरेखा’, ‘भारतीय इतिहास के अध्ययन की रूपरेखा’, ‘भारत के वर्ग-संरचना के बारे में’ इत्यादि इस विषय पर उनकी महत्त्वपूर्ण पुस्तकें हैं।

कोसम्बी ने संस्कृत साहित्य के वर्गीय पहलू को भी उजागर किया। राजाओं और राजवंशों की गाथा लिखने वाले संस्कृत के साहित्यकार फल-फूल रहे थे और उन्हें ख्याति मिल रही थी। लेकिन उत्पादन की कार्रवाई में लगे वर्गों के जीवन पर आधारित संस्कृत साहित्य और उनकी रचना करने वाले साहित्यकार विस्मृति के गर्भ में डूब रहे थे। कोसम्बी ने ऐसे 50 से अधिक साहित्यकारों और उनकी रचनाओं को पुनर्जीवित किया।

प्रायः ऐसा देखने में आता है कि विज्ञान के क्षेत्र में बड़ी उपलब्धियाँ प्राप्त करने वाले वैज्ञानिक खुद अपनी निजी जिन्दगी में वैज्ञानिक चेतना से कोसों दूर होते हैं। कोसम्बी ने अपने करीबी वैज्ञानिकों में भी इस प्रवृत्ति का अनुभव किया। वैज्ञानिक चेतना का प्रसार करने के लिए कोसम्बी ने कई पुस्तकें लिखीं। इनमें से कुछ महत्त्वपूर्ण पुस्तकें हैं ‘विज्ञान की सीढ़ियाँ’, ‘विज्ञान और आजादी’, ‘विज्ञान की सामाजिक भूमिका’, ‘विज्ञान : एक शुरुआत’, ‘वैज्ञानिक मनोवृत्ति और धर्म’, ‘इन्कलाब और विज्ञान की प्रगति’ इत्यादि। ‘उत्तेजक निबन्ध : द्वन्द्वात्मक पद्धति सम्बन्धी प्रयोग’ में उन्होंने विज्ञान में द्वन्द्ववाद के प्रयोग का अभूतपूर्व उदाहरण प्रस्तुत किया है।

कोसम्बी विश्व शान्ति परिषद के सक्रिय सहभागी थे। विश्वशान्ति के बारे में उन्होंने ‘साम्राज्यवाद और शान्ति’ में लिखा है कि शान्ति तब तक नहीं आ सकती जब तक एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति का शोषण करता रहेगा यह शोषण चाहे देवी अधिकार के आधार पर हो या जन्म के आधार पर, सैन्य शक्ति के आधार पर हो या निजी सम्पत्ति के आधार पर। शोषण का यह अधिकार थोड़े लोगों द्वारा बहुसंख्यक आबादी पर हिंसा और छल-प्रपंच द्वारा ही प्राप्त किया जाता है। ऐसी स्थिति में शान्ति का कोई अर्थ ही नहीं है। वे यह भी बताते हैं कि मात्र बैलट बॉक्स की औपचारिकता पूरा करके शोषकों को नहीं बदला जा सकता और न ही इसके माध्यम से शान्ति स्थापित की जा सकती है। शान्ति तभी स्थापित हो सकती है जब समाज का हर व्यक्ति अपनी क्षमता के अनुसार योगदान करे और आवश्यकता के अनुसार ग्रहण करे।

1930 से 1966 के बीच कोसम्बी ने डेढ़ सौ से अधिक शोधपत्र प्रकाशित किये जिनमें 60 गणित से सम्बन्धित थे, 60 इतिहास, मुद्राशास्त्र, प्राचीन संस्कृत साहित्य, इण्डोलॉजी इत्यादि से सम्बन्धित थे और शेष विज्ञान और समाज के अन्तरसम्बन्धों पर केन्द्रित थे। उन्होंने 14 पुस्तकें लिखीं। उपर्युक्त रचनाओं के अलावा उनकी कुछ अन्य महत्त्वपूर्ण कृतियाँ हैं ‘जनआन्दोलन में नेतृत्व की भूमिका’, ‘चीनी क्रान्ति के बारे में’ इत्यादि। इस बीच उन्हें कई पुरस्कार और फेलोशिप भी मिले।

अपने जनपक्षधर और प्रगतिशील विचारों के साथ विज्ञान की कठिन राह पर चलते हुए भारतीय शोधपरम्परा का यह सूर्य 29 जून 1966 को अस्त हो गया।

वैज्ञानिक दृष्टि और प्रगतिशील विचार कोसम्बी की चालक शक्ति थे। इसी मशाल को लेकर विज्ञान और समाज की राह को आलोकित करते रहना कोसम्बी की जन्मशती पर उन्हें सच्ची श्रद्धांजलि होगी।

□□□

सन्देह की प्रशंशा में

सन्देह प्रशंसित हो। मेरी सलाह मानो
तो प्रसन्नता और आदर के साथ/स्वागत करो उस आदमी का
जो तुम्हारा वचन खोटे सिक्के की तरह तोलता है।
मैं चाहूँगा कि तुम समझदार बनो
और अत्यधिक निश्चयपूर्वक आश्वासन मत दो।
इतिहास पढ़ो और देखो
अपराजेय सेनाओं की अंधाधुंध उड़ानें।
हर कहीं दिखाई देगा
अभेद्य किलों का ढहना
और अरमादा युद्धपोत भी बेशुमार था
जब रवाना हुआ था बन्दरगाह से
जबकि वापस लौटते जहाज गिनती के थे।
इसी तरह कोई आदमी किसी दिन दुर्गम चोटी पर चढ़ा
और कोई जाहज अन्तिम छोर तक जा पहुँचा
अनन्त सागर के।
कितना सुन्दर है सिर हिलाकर
किसी निर्विवाद सच्चाई को नकार देना!
कितना साहसिक है किसी डॉक्टर का इलाज कर देना
किसी लाइलाज रोगी का!
लेकिन सबसे सुन्दर है वह सन्देह
पददलित और हताश लोग जब अपना सिर उठाते हैं।
और भरोसा करना छोड़ देते हैं
अपने अत्याचारी की ताकत पर।

× × ×

ओह कितनी कठिन लड़ाई के बाद हासिल हुई नयी सच्चाई
देनी पड़ी कितनी कुर्बानियाँ!
कितना मुश्किल था यह मान पाना
कि चीजें ऐसी थीं, वैसी नहीं!
राहत की साँस लेकर एक दिन एक आदमी ने
दर्ज किया उसे ज्ञान के अभिलेख में
लम्बे समय तक शायद वहीं बना रहा वह,
और कई पीढ़ियाँ जीती रहीं उसके साथ

और मानती रहीं उसे शाश्वत ज्ञान
और विद्वान तिरस्कार करते रहे उनका
जो अनभिज्ञ थे उससे।
और फिर सम्भव है कि एक सन्देह उठे,
नये अनुभव के कारण
स्थापित सत्य खुली चर्चा का विषय बने
और तब एक दिन एक आदमी विचारपूर्वक
मिटा दे उसे ज्ञान के अभिलेख से।
कठोर आदेशों से दबाया गया,
दढ़ियल चिकित्सकों द्वारा परीक्षित
अपनी लड़ने की क्षमता के लिए, निरीक्षित सुनहरे राज दण्डयुक्त
देदीप्यमान जीवों द्वारा,
प्रबोधित कर्मकाण्डी पुरोहितों द्वारा जो फेंकते हैं उसके ऊपर
खुद ईश्वर के हाथों लिखी किताब,
सुशिक्षित अधीर अध्यपकों द्वारा/खड़ा होता है एक गरीब
आदमी
और उसे बताया जाता है
कि उसकी दुनिया सबसे बेहतरीन दुनिया है
और उसकी झोपड़ी के छप्पर का छेद
खुद भगवान के द्वारा बनाया गया है
सचमुच उसे काफी मुश्किल लगता है
इस दुनिया पर सन्देह करना।

× × ×

ऐसे विचारहीन लोग हैं जो कभी सन्देह नहीं करते
उनका हाजमा काफी दुरुस्त है, उनका फैसला अचूक।
वे तथ्यों पर भरोसा नहीं करते,
केवल खुद पर भरोसा करते हैं वे।
जब मुद्दे पर बात आती है तो तथ्यों का
खटाई में पड़ना तय है।
अपने प्रति उनका धैर्य असीम है। तर्कों को
सुनते है पुलिस जासूस के कान से।
विचारहीन जो कभी सन्देह नहीं करते
मिलते हैं विचारवान से जो कभी कार्रवाई नहीं करते हैं
वे सन्देह करते हैं, किसी निर्णय तक पहुँचने की प्रक्रिया में
नहीं
बल्कि निर्णय को टालने के लिए।
अपने मुण्ड का इस्तेमाल करते हैं केवल हिलाने के लिए।
उत्सुक चेहरों के साथ वे डुबते जहाज के जल्ये को चेतावनी
देते हैं

कि पानी खतरनाक है।
हत्यारे की कुल्हाड़ी के नीचे पड़े-पड़े
वे खुद से पूछते हैं कि वह भी इन्सान ही तो है।
कुछ बुदबुदाते हुए कि
परिस्थिति अभी स्पष्ट नहीं हो पा रही, वे सोने चले जाते हैं।
उनकी एकमात्र कार्रवाई है हिचकिचाना।
उनका प्रिय वाक्य है विमर्श के लिए अभी परिपक्व नहीं।

× × ×

इसलिए, यदि तुम सन्देह की प्रसंशा करो
तो मत प्रसंशा करो
उस सन्देह का जो निराशा का एक रूप हो।
उस आदमी के सन्देह की क्षमता का भला क्या लाभ
जो निश्चय ही न कर सके?
जो कोई बहुत कम बुद्धि में ही राजी है
वह कर सकता है गलत कार्रवाई
लेकिन वह जिसे बहुत ज्यादा ज्ञान चाहिए
खतरे के समय निष्क्रिय रहता है।
तुम जो लोगों के नेता हो, भूलो मत
कि तुम इसलिए यहाँ पहुँचे कि तुमने सन्देह किया दूसरों पर।
इसलिए स्वीकार करो कि अनुयायियों को भी
अधिकार है तुम पर सन्देह करने का।